जैन भारती

वर्ष 53 • अंक 10 • अक्टूबर, 2005

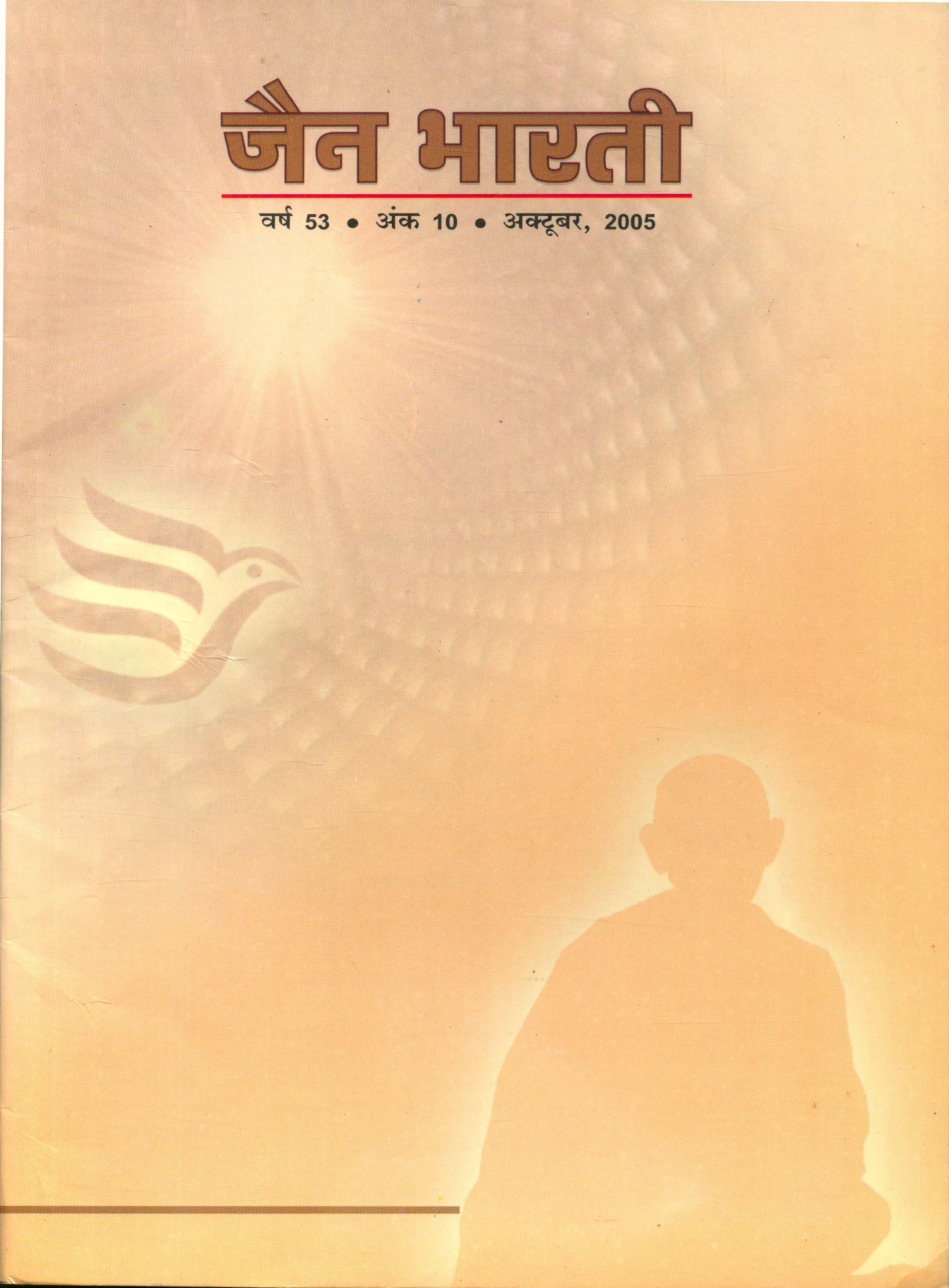

With Best Compliments From :

GIRIAS

The Consumer Durable People

The Undisputed No. 1 in Karnataka for Television and Home Appliances

Gandhinagar ☆ **Brigade Road**

Ph : 2264551
2204189
Fax : 2262123

Ph : 2228032
2270126
Fax : 2235555

BANGALORE
4 world class Showrooms

Sadashivnagar ☆ **Jayanagar**

Ph : 3619195
3619196
Fax : 3611448

Ph : 6566140
6566141
Fax : 6566142

Dr. Nanjappa Road
Ph : 233059
Fax : 231675

COIMBATORE
2 world class Showrooms

Cross Cut Road
Ph : 236486
Fax : 236487

PHILIPS ONIDA Whirlpool VIDEOCON Electrolux Kelvinator SHARP IFB LG SAMSUNG ELECTRONICS BPL SONY

Godrej THOMSON SANSUI Alstom LEXUS USHA FORBES GLEN BRAUN MAHARAJA Mallcast ULTRA GRIND

MANGALORE

NALPAD APSARA CHAMBERS
K. S. Rao Road, Hampan Katta
Tel. : 2442220, 2442880

388292

KARNATAKA FILATEX

(Mfrs. of H.D.P.E Woven Fabric)
Magadi Chord Road, BANGALORE 560079
Ph. 23353714

GIRIAS UTTARANCHAL TEA

UTTARANCHAL TEA CO. PVT. LTD.

Pingalkot, Post. Kausani
Dist. Bageshwar, Uttaranchal
Ph. : 059 62 45330 / 331 Fax : 45314

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 53 • अक्टूबर, 2005 • अंक 10

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अर्थसंवेदनं आगमः

14
निर्मल वर्मा
धर्म, धर्मतंत्र और राजनीति

21
साध्वी डॉ. गवेषणाश्री
क्रियावाद : एक विश्लेषण

•

आवरण
अडिग

अनुभूति

27
साध्वी कनकश्री
देव मेरे दिव्य अर्हत् श्रेष्ठ सारे लोक में

31
महात्मा गांधी
सचाई की जड़ में है सच्चा अर्थशास्त्र

35
कहानी
शरतचंद्र चट्टोपाध्याय
त्रासदी अनुराधा की

44
कविता
वंशी माहेश्वरी की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अणुव्रत, अहिंसा और सत्याग्रह

शीलन

47
वैद्य ठाकुरप्रसाद शर्मा
प्रज्ञापराध और जनपदोद्ध्वंस

50
साध्वी कल्पमाला
धीरा सो गंभीरा

54
बालकथा
गिरजारानी अस्थाना
मैं आपकी असली बेटी

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

जैसी नीति वैसा फल

'कोई साधु बार-बार असावधानी करता है, पर उसकी नीति में अंतर नहीं।' उस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—'अनाज का कण पड़ा हुआ देखकर किसी साधु से गुरु ने कहा—यह अनाज का कण पड़ा है, इस पर पैर मत रखना।'

तब वह बोला—'स्वामीनाथ! पैर नहीं रखूंगा।'

थोड़ी देर बाद इधर-उधर घूमता हुआ आया और उस अनाज के कण पर पैर रख दिया।

तब गुरु बोले—'तुम्हें इस पर पैर रखना बरजा था न?'

तब वह साधु बोला—'स्वामीनाथ! मेरा ध्यान नहीं रहा।'

तब गुरु बोले—'अब इस पर पैर रख दिया, तो कल सबेरे तुम्हें 'विगय' खाने का त्याग है।'

थोड़ी देर बाद फिर इधर-उधर घूमता हुआ आया और उस पर पैर रख दिया।

इस प्रकार असावधानी के कारण उसने बार-बार उस पर पैर रखा, किंतु वह उस अनाज के कण पर पैर रखना और विगय-वर्जन करना चाहता नहीं है। उसकी सावधानी में कमी है। दोष की स्थापना नहीं है, इसलिए उसकी नीति शुद्ध है। यदि नीति शुद्ध हो, पर कर्मों के उदय से असावधानी हो जाए, तो उससे कोई असाधु नहीं बनता। और मोह के उदय से जान-बूझकर दोषों का सेवन करता है, उनकी स्थापना करता है और उनका प्रायश्चित भी नहीं करता, उससे वह असाधु होता है।

पुस्तक और ज्ञान

कुछ लोग कहते हैं—'पुस्तक को जमीन पर नहीं रखना चाहिए और उसकी ओर पीठ कर नहीं बैठना चाहिए। क्योंकि पुस्तक-पन्ने तो ज्ञान हैं। उनकी आसातना (अविनय) नहीं करनी चाहिए।'

तब स्वामीजी बोले—'पुस्तक-पन्नों को तुम ज्ञान कहते हो, तो पुस्तक-पन्ने फट गए तो क्या ज्ञान फट गया? पुस्तक-पन्ने जीर्ण हो गए तो क्या ज्ञान भी जीर्ण हो गया? पन्ने उड़ गए, तो क्या ज्ञान भी उड़ गया? पन्ने जल गए, तो क्या ज्ञान भी जल गया? पन्ने चुरा लिए गए, तो क्या ज्ञान भी चुरा लिया गया? पन्ने तो अजीव हैं और ज्ञान जीव है। अक्षरों का आकार तो पहिचानने के लिए है, जो पन्ने में लिखा हुआ है, उसका बोध ज्ञान होता है, वह आत्मा है और वह अपने पास ही है। पन्ने भिन्न हैं—आत्मा से अन्य हैं।' •

अपरिग्रह का मूल्य न तो गरीबी की स्थिति में है और न लड़खड़ाती अर्थव्यवस्था पर आधारित है। वस्तु-उत्पादन और भौतिक संपदा के साथ कोई विरोध भी नहीं है। पदार्थ और पदार्थ-प्रयोग—इन दोनों के होते हुए भी मन में लगाव या आसक्ति न हो, यह अपरिग्रह की आधार-भित्ति है। इसका निर्माण करने के लिए अंतर्जगत में बहुत लंबी यात्रा करनी होती है। वह यात्रा अध्यात्म का अनुसंधान है और विवेक का संधान है। सामाजिक व्यक्ति के लिए अपरिग्रह के चरम शिखर तक पहुंचना कठिन है, इस दृष्टि से भगवान महावीर ने समाज के लिए परिग्रह के अल्पीकरण का सिद्धांत दिया।

—आचार्यश्री तुलसी

दुःख का स्रोत है—कामना और तीव्र आसक्ति। दर्शनशास्त्र में प्राणी के अनेक लक्षणों में एक प्रमुख लक्षण बताया गया है—इच्छा। छोटे से छोटा प्राणी भी इच्छाशून्य नहीं है। कामना और कल्पना—ये दो शब्द हैं। कल्पना के साथ पुरुषार्थ का योग होता है और कामना के साथ आसक्ति होती है। यही आसक्ति दुःख देती है। जब तीव्र आसक्ति का उदय होता है, तो एक अलग तरह का प्रकंपन पैदा होता है। फलस्वरूप शरीर की सारी क्रियाएं गड़बड़ा जाती हैं। कामना की तीव्रता शरीर को अस्वस्थ बना देती है। मन की बीमारी का मूल कारण भी यही है। कामना पैदा होती है, मन चंचल बन जाता है।

कामना के साथ यथार्थ को कभी ओझल नहीं करना चाहिए। जिसने कामनाओं का अंत कर लिया, वीतराग बन गया—उसके लिए मानसिक दुःख और भावात्मक दुःख का द्वार बंद हो जाता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

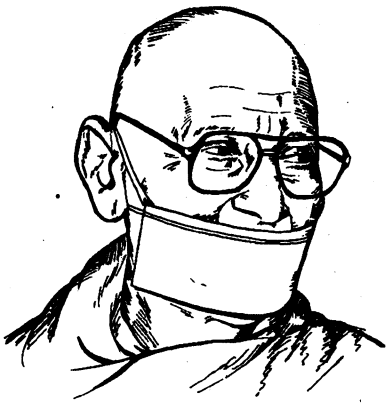

हिंसा को छोड़ने का प्रारंभ अनावश्यक हिंसा से मुक्त होकर करो। जो-जो आवश्यक नहीं है, उसे छोड़ते चलो। इस 'नेति-नेति' के पश्चात् जो बचेगा, वह जीवन का यथार्थ होगा—एक तरह से अर्थ-हिंसा होगी। जो समस्या है—वह अर्थ-हिंसा की नहीं है, सारी-की-सारी उलझन अनर्थ-हिंसा से बढ़ रही है। प्रश्न है, क्या आज का मनुष्य अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा का विवेक कर रहा है? क्या आज के समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री अर्थ-हिंसा की कोई तालिका बनाने के प्रयत्न में लगे हुए हैं? क्या किसी धर्मगुरु ने ऐसी कोई तालिका बनाई है? संतुलित भोजन की तालिका उपलब्ध है, क्योंकि शारीरिक पोषण के लिए उसे आवश्यक समझा गया है।

मनस्पोषण को शायद उतना आवश्यक नहीं समझा गया है। इसलिए अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा के बीच स्पष्ट भेद-रेखा नहीं खींची जा सकी है। अधिक सुविधा और अधिक उपभोग-पदार्थों को बाजार में उपलब्ध कराना व्यावसायिक दृष्टि से संगत माना जा सकता है। मानवीय चेतना को भी यदि व्यवसाय की चौखट में जड़ित किया जाएगा तो उसका भी व्यावसायीकरण हुए बिना नहीं रहेगा। यही कारण है कि आज के किशोरों और युवकों को इंद्रियों के आकर्षण को कम करने की बात समझाना सरल नहीं रहा है। वे आकर्षण के साथ इतने बह चुके हैं कि प्रवाह को मोड़ने का सूत्र खोजना भी कठिन हो रहा है। तब लगता है कि हिंसा की बढ़ोतरी ही उसकी भयंकरता का एहसास कराएगी और तब आंख खुलेगी। तब ही विवश मनुष्य फिर से सचाई की ओर लौटने की बात सोचेगा।

हिंसा की परिस्थिति का यह एक पहलू है। हम हिंसा-अहिंसा के अन्य पहलुओं पर भी विचार करें।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अणुव्रत, अहिंसा और सत्याग्रह

सत्य के प्रति आग्रह की बात सबके लिए ग्राह्य होते हुए भी वैसा कर पाना सबके लिए सरल नहीं है। हम किसी से भी बात करें, यह कोई नहीं कहेगा कि सत्य के प्रति आग्रह नहीं रखा जाए। ऐसा व्यक्ति जो घोर स्वार्थों से भरा हो, छल-कपट ही जिसका स्वभाव हो—वह भी अपने मन के अंतस्तल में सत्य को प्रतिष्ठापित करना चाहेगा। अपना 'झूठ' भी वह 'सत्य' के आवरण में लपेट कर ही प्रकट करेगा। सत्य की आभा और गरिमा को इस तरह महसूस करना, यही एहसास देता है कि मनुष्य मात्र के मन में सत्य के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव कभी लुप्त नहीं हो सकता।

सत्य के प्रति आग्रह का तात्पर्य मूलतः इस बात में निहित है कि व्यक्ति स्वयं उसका पालन कितना करता है, न कि मात्र यह देखना कि दूसरा व्यक्ति जो व्यवहार कर रहा है—वह कितना सत्य है। स्वयं के व्यवहार में सत्य का जितना अटूट आग्रह होगा, दरअसल 'सत्याग्रही' उसे ही कहा जाएगा। ऐसा ही व्यक्ति किसी भी अन्य स्तर पर होने वाले अनुचित व्यवहार के लिए 'सत्याग्रह' का दबाव बनाने का अधिकार रखता है। सत्याग्रह का ऐसा दबाव अपना उद्देश्य तभी पूरा कर सकता है, जब उसका आधार अहिंसक हो। सत्याग्रह के दबाव में हिंसा, जोर-जबरदस्ती अथवा बल प्रयोग के लिए कोई स्थान नहीं है, जबकि उपवास को सत्याग्रह के लिए अपेक्षित माना गया है।

महात्मा गांधी ने सत्याग्रह को शस्त्र के रूप में प्रयोग की बात जब कही और इसके लिए 'उपवास' को अस्त्र की तरह काम में लिया तो यह भी बता दिया था कि उपवास का प्रयोग सत्याग्रह के लिए करते हुए किन-किन बातों का ध्यान रखा जाएगा। एक अस्त्र के रूप में सत्याग्रही के उपवास करने के प्रसंग पर यह स्पष्ट किया गया है कि उपवास कौन कर सकता है, कब कर सकता है, किसके विरुद्ध कर सकता है? यह साफ बताया गया है कि स्वार्थपूर्ण हेतु के लिए उपवास नहीं किया जा सकता। उसका उद्देश्य शुद्ध जन-कल्याण होना चाहिए। उपवास की प्रेरणा भीतर से होनी चाहिए। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि अंतरात्मा की आवाज सुनने की योग्यता उसी मनुष्य में आती है जो विशुद्ध रूप से यम-नियम का कठोर पालन कर रहा हो। इस प्रकार सत्याग्रह के लिए उपवास करने के प्रसंग में जो विशद प्रकाश महात्मा गांधी ने डाला,

उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्याग्रह और अहिंसा, सत्याग्रह और प्रेम तथा सत्याग्रह और निष्कलुषता कभी पृथक-पृथक रखकर नहीं देखे जा सकते।

सत्याग्रह और अहिंसा की इस पृष्ठभूमि के आधार पर हमें इसकी प्रासंगिकता पर थोड़ा विचार करना चाहिए। प्रसंगवश हमें यह भी स्मरण कर लेना चाहिए कि 11 सितंबर, 1906 को दक्षिण अफ्रीका के जोहांसबर्ग शहर में गोरी सरकार की जन-विरोधी नीतियों के विरुद्ध महात्मा गांधी ने 'सत्याग्रह' की घोषणा की थी। उस घटना को एक सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं। क्या हमारे देश और दुनिया को गांधी के 'सत्याग्रह' में अभी भी किसी 'ओज' के दर्शन हो रहे हैं? क्या ऐसा कोई समूह खड़ा किया जा सकता है जो वास्तविक अर्थों में 'सत्याग्रह' की पूरी अवधारणा को आत्मसात कर आगे आए? जिस गोरी सरकार की जन-विरोधी नीतियों के खिलाफ गांधी ने 'सत्याग्रह' किया और आठ-नौ साल बाद उसमें सफलता हासिल हुई, उसकी पूरी पृष्ठभूमि को समझने की आज कोई जरूरत है?

'सत्याग्रह' को एक शस्त्र के रूप में गांधी ने जब मान्य किया और उसके बाद देश की आजादी के आंदोलन में अनेक बार उसका जिस तरह उपयोग किया गया—उन सभी बातों को खंगालना आज इसलिए प्रासंगिक है कि वैसे ही हालात दिन-ब-दिन आज होते चले जा रहे हैं। साथ ही इन हालातों से निपटने के जो भी उपाय शासन और समाज की ओर से होते रहे हैं—उन सबका व्यापक असर भी प्रतीत नहीं हो रहा है। तब एक प्रयोग-सिद्ध अस्त्र का उपयोग करने पर विचार किया जाना समय का तकाजा है।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि 'सत्याग्रह' में वैर-भाव के लिए कोई स्थान नहीं है। यह कहा गया है कि एक सत्याग्रही अपने प्रतिपक्षी का अतिशय विरोध करते हुए भी मन, वचन अथवा काया से प्रतिपक्ष के किसी भी व्यक्ति का अहित न तो चाहेगा और न करेगा। इससे यह स्पष्ट है कि 'सत्याग्रह' में जो बल है—बुनियादी तौर पर वह बल प्रेम और अहिंसा का ही है। इस दृष्टि से सत्याग्रह का संपूर्ण सिद्धांत महावीर के सिद्धांतों से बहुत ही करीब है। स्वयं महात्मा गांधी ने भी यही माना था कि अहिंसा और सत्य के सिद्धांत ने उनको सबसे अधिक प्रभावित किया है। सभी समस्याओं का समाधान और संपूर्ण शक्ति अहिंसा और सत्य में निहित है। इस तरह यह मानना असंगत नहीं होगा कि एक शस्त्र के रूप में सत्याग्रह के सिद्धांत और महावीर के सिद्धांतों में कोई अंतर नहीं। यह कहना उचित ही होगा कि गांधी और महावीर एक ही धरातल पर खड़े हैं।

इस दृष्टि से 'अहिंसा समवाय' और 'अणुव्रत आंदोलन' के सामने यह लक्ष्य रखा जाना चाहिए कि 'सत्याग्रह' पर वे भी विचार-मंथन करें। हर वर्ष मनाए जाने वाले अणुव्रत सप्ताह में जिन-जिन पक्षों पर चर्चाएं होती हैं, उनमें इसका समावेश किया जा सकता है। अहिंसा तो 'अणुव्रत आंदोलन' का मुख्य विचार बिंदु है ही। इस वर्ष अणुव्रत सप्ताह के कार्यक्रमों में 2 अक्टूबर को 'अहिंसा' पर विचार-मंथन निश्चित है। अणुव्रत सप्ताह के कार्यक्रमों में यह दिन 'अहिंसा दिवस' के रूप में मनाया जाना है। गांधी जयंती के दिन 'अहिंसा' पर चर्चा-परिचर्चा होना प्रकारांतर से गांधी का स्मरण करना ही है। गांधी ने अपने जीवन में और समाज स्तर पर 'अहिंसा' के जो प्रयोग किए—वे सब विरल घटनाएं हैं। इन्हीं घटनाओं की विवेचनाओं और विश्लेषणों में से आज का मार्ग तलाशा जा सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की प्रेरणा से जिस 'अहिंसा समवाय' का गठन हुआ और जो भी कार्य उसके माध्यम से अब तक हुए, उनके मूल में 'अहिंसक समाज संरचना' की भावना निहित रही है। ऐसे समाज की संरचना में सत्याग्रह की भूमिका की संभावना को तलाशा जाना चाहिए। इस काम में कई अन्य संगठन जो कार्य कर रहे हैं, उनकी सहभागिता पर भी विचार होना चाहिए। दिल्ली में कार्यशील 'स्वराजपीठ ट्रस्ट' पिछले काफी समय से जो कार्य कर रहा है, उनमें भी वे बातें हैं जो 'अहिंसा समवाय' या 'अणुव्रत' में हैं। ये सभी एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं। 'अहिंसा-समवाय' के गठन के समय आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह स्पष्ट मत था कि अलग-अलग स्तरों पर हो रहा एक-सा कार्य एक धरातल पर लाया जाए और 'अहिंसा समवाय' इसका मंच बने। 'अहिंसा समवाय' और 'अणुव्रत आंदोलन' के लिए यह उचित अवसर है कि वे आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के दिल्ली प्रवास का इस दृष्टि से लाभ लें। 'सत्याग्रह' के इस एक सौवें वर्ष पर महावीर, गांधी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के बजरिए 'अहिंसक समाज संरचना' पर यदि कुछ ठोस विचार होता है तो कई लक्ष्य एक साथ हासिल हो सकते हैं। हमें यह अभीप्सा करनी चाहिए।

—शुभू पटवा

विमर्श

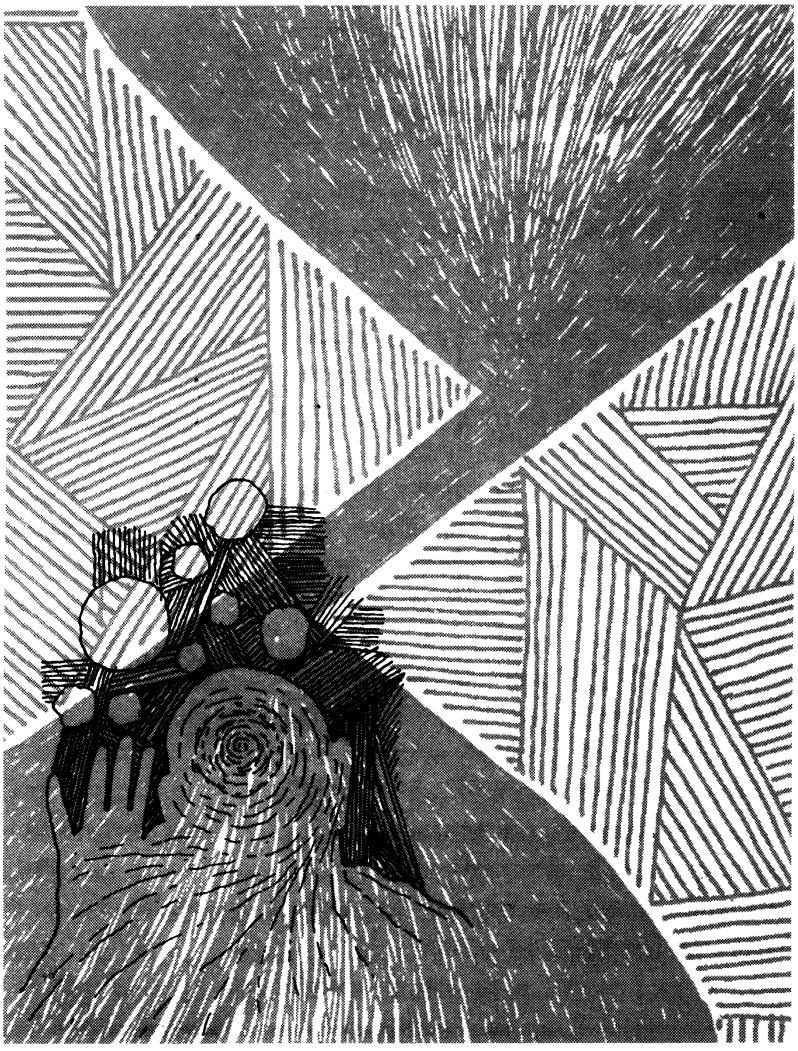

जिस युग में हम रह रहे हैं उसकी अपनी विशेषता है। हमारी सभ्यता पर आधुनिक विज्ञान का गहरा प्रभाव पड़ा है। आज संकुचित विचारधारा से हमारा कल्याण नहीं हो सकता है। हमारी दृष्टि सांप्रदायिक और प्रांतीय न होकर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय होनी चाहिए। हममें इन हीन प्रवृत्तियों से ऊपर उठने का सत्साहस और सद्विवेक होना चाहिए। प्राचीन संस्कृति के उत्कृष्ट अंशों की रक्षा करते हुए हमको आधुनिक युग के सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को अपनाना होगा। राष्ट्रीय एकता के लिए किसी विशेष भाषा या लिपि का अनुचित पक्षपात छोड़कर केवल राष्ट्रहित से प्रेरित होना होगा। जनतंत्र की भावना से प्रेरित होकर हमको सब काम करने होंगे। हमारा चिंतन वैज्ञानिक होगा और हम ज्ञान की निरंतर वृद्धि करते रहेंगे। जिस कुशल चेतना से प्रेरित होकर प्राचीन ऋषियों ने सकल समाज के कल्याण के लिए सत्पथ का उद्घाटन किया था उसी कुशल चेतना की भावना कर, उन्हीं आर्य और उदात्त भावों से प्रेरित होकर हम आज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्रती हों और बहुजन समाज के हित-सुख का विधान कर अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए यत्नवान हों।

—आचार्य नरेंद्रदेव

दर्शन युग में जैन आचार्यों ने दर्शन के साथ संगति बिठाई। उसी तरह इस वैज्ञानिक युग में विज्ञान के साथ भी संगति बिठाना आवश्यक है। यह कहने में मुझे संकोच नहीं होता कि जैन धर्म के दार्शनिक आचार्यों ने जैन शासन के विकास के लिए जितना पुरुषार्थ किया था, आज के वैज्ञानिक युग में हम उतना पुरुषार्थ अभी नहीं कर पाए हैं। उन्होंने उस युग में नैयायिक दर्शन के साथ भी अपनी बात को जोड़ा, चाहे उसका खंडन किया या मंडन किया। वैशेषिक दर्शन और सांख्य दर्शन के साथ भी अपने दर्शन की तुलना एवं समीक्षा की। वेदांत और चार्वाक दर्शन की भी जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में मीमांसा की गई। आज विज्ञान की जितनी शाखाएं हैं, उनके साथ जैन दर्शन का विस्तृत विवेचन हम नहीं कर पाए हैं।

❑❑❑

अर्थसंवेदनं आगमः

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

भारतीय दर्शन में ज्ञान के संदर्भ में अलग-अलग धारणाएं रही हैं। किसी दर्शन ने एक ज्ञान को प्रमाण माना और किसी ने दो ज्ञान को प्रमाण माना। किसी ने तीन, चार या पांच को प्रमाण माना और किसी दर्शन ने प्रमाण की संख्या को और बढ़ा दिया। जैन दर्शन ने उनका बहुत वैज्ञानिक ढंग से समाधान दिया है। जैन दर्शन ने बहुत बुद्धिमत्ता के साथ सबको दो में समाहित कर दिया—प्रत्यक्ष और परोक्ष। एक प्रत्यक्ष ज्ञान और दूसरा परोक्ष ज्ञान। इन दो की सीमा से परे कोई ज्ञान नहीं है। इनमें सबका समावेश हो गया।

प्रत्यक्ष ज्ञान के दो प्रकार हैं—इंद्रिय प्रत्यक्ष और अतींद्रिय प्रत्यक्ष। इंद्रिय और मन की सीमा में जो जाना जाता है, वह इंद्रिय प्रत्यक्ष है। जो इंद्रियों की सीमा से परे है, जहां इंद्रियों की कोई अपेक्षा नहीं होती, वह अतींद्रिय प्रत्यक्ष है। आकाश में ध्वनि के अनंत प्रकंपन बिखरे पड़े हैं, किंतु व्यक्ति को उनका पता नहीं चलता, वह उन्हें पकड़ नहीं पाता। व्यक्ति के आस-पास ध्वनि के जो प्रकंपन होते हैं, उसे उनका ही पता चलता है, उन्हें पकड़ा जा सकता है। इसका कारण है इंद्रिय की सीमा। एक निश्चित आवृत्ति में ध्वनि के प्रकंपन होते हैं, तो व्यक्ति उन्हें पकड़ पाता है। कान के लिए एक आवृत्ति का निर्धारण है। आंख के लिए भी एक आवृत्ति का निर्धारण है। निश्चित आवृत्ति में जो सामने आता है, व्यक्ति उसे देखता है, सुनता है। अगर इंद्रिय की यह सीमा न हो तो आदमी एक दिन में पागल बन जाए। एक दिन में नहीं, एक घंटे में ही व्यक्ति पागल बन जाए। शब्दों का इतना कोलाहल इस आकाश मंडल में है कि उसे सुनें तो आदमी जी ही नहीं सकता। प्रकृति की यह एक सुंदर व्यवस्था है कि व्यक्ति उतना ही सुनता है, जितना उसके लिए उपादेय होता है। उतना ही देखता है, जितना उसके लिए उपादेय होता है।

इंद्रिय ज्ञान और अतींद्रिय ज्ञान

इंद्रियों में भी बहुत तारतम्य है। आगमों में इंद्रिय-पाटव शब्द का प्रयोग मिलता है। एक इंद्रिय का सामान्य ज्ञान और एक इंद्रिय का पाटव या इंद्रिय लाघव। जिसमें इंद्रिय की पटुता बढ़ जाती है, वह दूर की बात देख लेता है, दूर की बात सुन लेता है, जान लेता है। यदि इंद्रिय का पाटव नहीं होता है तो व्यक्ति स्वल्प सीमा में ही जानता है, देखता है। आज के वैज्ञानिक युग में एक प्रश्न सामने आया है और वह बड़ा चिंतनीय प्रश्न है। दर्शन में इंद्रिय ज्ञान और अतींद्रिय ज्ञान के बीच जो भेद-रेखा खींची गई, उसका तात्पर्य है कि इंद्रिय ज्ञान स्थूल को ही जानता है, सन्निकृष्ट को जानता है और अव्यवहित को जानता है। अतींद्रिय ज्ञान सूक्ष्म, विप्रकृष्ट और व्यवहित को भी जान सकता है। दीवार से परे क्या है—आंख नहीं देख सकती, किंतु

अतींद्रिय ज्ञानी देख सकता है। एक सूक्ष्म कण को अतींद्रिय ज्ञानी देख सकता है, इंद्रिय ज्ञानी नहीं देख सकता। एक वस्तु या पुस्तक पड़ी है और उसे ढक दिया गया, उसे एक इंद्रियज्ञानी नहीं जान सकता। किंतु, एक अतींद्रिय ज्ञानी जान सकता है। इंद्रिय ज्ञान और अतींद्रिय ज्ञान में यही एक भेद-रेखा है।

चिंतनीय प्रश्न

विज्ञान ने 'टेलीस्कोप-माइक्रोस्कोप' जैसे सूक्ष्म उपकरण विकसित कर लिए हैं। वैज्ञानिक 'माइक्रोस्कोप' के द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म कणों को देखने में सफल हुए हैं। इलेक्ट्रोन और प्रोटोन को देखने में सफल हुए हैं। 'टेलीस्कोप' के द्वारा सैकड़ों-हजारों प्रकाश वर्ष की दूरी की नीहारिकाओं को देखने में सफल हुए हैं। सैकड़ों प्रकाश वर्ष, हजारों प्रकाश वर्ष के बीच बहुत बड़ा अंतराल है। विद्युत की गति एक सैकेंड में 1,86,000 मील की है। इसे सैकेंड का एक वर्ष बनाएं तब एक प्रकाश वर्ष होता है। ऐसे हजारों प्रकाश वर्ष की दूरी पर जो नीहारिकाएं हैं, सौर-मंडल हैं, तारागृह हैं—उन्हें 'टेलीस्कोप' के द्वारा देखा जा सकता है। क्या यह इंद्रिय ज्ञान है? क्या यह अतींद्रिय ज्ञान नहीं है? विज्ञान ने ऐसे यंत्र और उपकरण विकसित कर लिए हैं, जिनसे शरीर के भीतर क्या हो रहा है, सारा दिखाई देने लग जाता है। वे उपकरण चमड़ी के भीतर विद्यमान समस्त तत्त्वों को देख लेते हैं। क्या इसे अतींद्रिय ज्ञान नहीं कहा जा सकता? इंद्रियों से शरीर के भीतर नहीं देखा जा सकता। भीतर क्या हो रहा है, आंख से नहीं देखा जा सकता। जो सौर-मंडल हैं, उन्हें आंखों से नहीं देखा जा सकता। एक सूक्ष्म कण को आंख से नहीं देखा जा सकता। इन सबको वैज्ञानिक उपकरणों के द्वारा देखा जा सकता है। यह क्यों नहीं मान लिया जाए कि ऐसे सभी वैज्ञानिक उपकरण अतींद्रिय ज्ञान के साधन बन गए हैं?

समाधान : अतींद्रिय प्रत्यक्ष के संदर्भ में

जैन दर्शन के सामने यह एक अहम प्रश्न है। इससे इंद्रिय ज्ञान और अतींद्रिय ज्ञान की भेद-रेखा समाप्त हो जाएगी। इस समस्या का समाधान अतींद्रिय प्रत्यक्ष के संदर्भ में खोजा जा सकता है। अवधि ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है, किंतु उसमें भी पुद्गलों का सहयोग आवश्यक होता है। अवधि ज्ञान से व्यक्ति अपने ज्ञान को इतना विकसित और निर्मल बना ले कि जिससे वह सूक्ष्म, दूरवर्ती और व्यवहित वस्तु को जान सके और चाहे वह ऐसे उपकरणों का विकास कर ले, जिनके द्वारा उन्हें वह जान सके—अतींद्रिय प्रत्यक्ष के संदर्भ में यह पुद्गल सहयोग ही तो है। केवलज्ञान से नीचे की सीमा में जितने क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, उनमें पुद्गल सहायक बनता है। अवधि ज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान में भी किसी-न-किसी रूप में पुद्गल का योग रहता ही है। इसलिए उपकरणों का विकास भी हमारे क्षयोपशम में सहायक बन सकता है। क्षायोपशमिक ज्ञान में आंतरिक उपकरणों का विकास किया जाता है। इसका अर्थ है—नाड़ीतंत्र को इतना विकसित बना लिया जाए, जिससे व्यक्ति सूक्ष्म और व्यवहित तत्त्वों का ज्ञान कर सके। नाड़ीतंत्र को विकसित करें या बाहर के उपकरणों को विकसित करें, इन दोनों में बहुत अंतर नहीं लगता। आंतरिक निर्मलता बढ़ने से जो ज्ञान हुआ, बाह्य साधनों का योग मिलने से भी वही ज्ञान हो गया।

आगम का अर्थ

आगम की जो परिभाषा की गई, उसमें दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। जैन दर्शन में आगम कोई ग्रंथ नहीं है। वेद को मानने वाले वेद को स्वतःप्रमाण मानते हैं। उनकी दृष्टि में वेद स्वतःप्रमाण होता है, क्योंकि वह ईश्वरीय ज्ञान है। जबकि जैन दर्शन के अनुसार कोई भी ग्रंथ स्वतःप्रमाण नहीं है। प्रत्येक ग्रंथ परतःप्रमाण है। स्वतःप्रमाण आगम है। आगम का अर्थ शास्त्र नहीं है। आगम का अर्थ है—आगम पुरुष। वास्तव में जैन आगमों के लिए आगम शब्द का प्रयोग मूल नहीं है। व्यवहार के पांच प्रकार बतलाए गए हैं—

पंचविहे ववहारे पण्णत्ते-आगमे, सुए, आणा, धारणा, जिए।

इनमें पहला है आगम और दूसरा है श्रुत। श्रुत के दो प्रकार बतलाए गए—अंग-प्रविष्ट और अनंग-प्रविष्ट।

आगम का प्रयोग पुरुष के लिए

मूल शब्द है श्रुत। मूल श्रुत-ज्ञान रहा है। द्वादशांगी के लिए आगम शब्द का प्रयोग बाद में हुआ है। पहले आगम शब्द का प्रयोग केवल पुरुष के लिए होता था। अवधिज्ञानी आगम होता है, चतुर्दशपूर्वी आगम होता है और दशपूर्वी आगम होता है। विशिष्ट ज्ञान से संपन्न पुरुष आगम कहलाते हैं और वे स्वतःप्रमाण होते हैं। यह आगम युग की यानी महावीर के समय की चिंतन-धारा है। बीच का युग दर्शन का युग था। उसकी परिभाषा में थोड़ा बदलाव आया। दर्शनयुग की परिभाषा है—

आप्तवचनादाविर्भूतं अर्थसंवेदनं आगमः

आप्त वचन से होने वाले अर्थ का संवेदन आगम है। आगम का मतलब ग्रंथ नहीं है। आप्त के वचन से व्यक्ति को जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान आगम है।**उपचारात् आप्तवचनं च** उपचार से आप्त की वाणी को भी आगम कहा जाता है। उपचार मूल नहीं है। जिस ग्रंथ से जो ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान आगम है। उपचार की दृष्टि से वह ग्रंथ भी आगम कहलाता है, यह दर्शन युग की आगम की परिभाषा है।

आगम की आगमयुगीन परिभाषा

आगम युग की परिभाषा है—**केवलनाण पुरस्सरो पाएण अणिंदियट्ठ विषओ युत्तिगोचरातीदो।** यह आगम युग की बहुत सुंदर परिभाषा है—वह ज्ञान जो केवलज्ञान से प्रकट हुआ है, युक्ति और गोचर से अतीत है और जो प्रायः अतींद्रियार्थ विषय है—वह आगम है। आगम का विषय है—इंद्रियातीत पदार्थ। आत्मा इंद्रियातीत विषय है। सामान्य व्यक्ति आत्मा को नहीं जानता। आत्मा का प्रतिपादन करना आगम का काम है। क्योंकि आत्मा इंद्रिय और हेतुगम्य नहीं है। वनस्पति के एक कण में अनंत-अनंत जीव होते हैं, यह आगम का विषय है, अतींद्रियज्ञान का विषय है। जो अतींद्रिय विषय है—वह आगम है। उसमें किसी इंद्रिय, तर्क या युक्ति का प्रयोग नहीं होता।

महावीर किसी भी तथ्य के लिए कोई हेतु नहीं देते। उसे किसी तर्क से सिद्ध नहीं करते। महावीर के शिष्य तर्कों का प्रयोग करते हैं, किंतु महावीर तर्क को बिलकुल नहीं जानते थे। महावीर ने कहा—'मैं ऐसा कहता हूं'। महावीर नहीं कहते—मैं ऐसा सोचता हूं। महावीर ने जो जाना, देखा—वही कहा। इसलिए उन्हें युक्ति या तर्क की कोई अपेक्षा नहीं रही।

ज्ञान का मूल स्रोत

आयुर्वेद का मुख्य ग्रंथ है चरक। उसमें कहा गया है—**पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं ततःप्रत्यक्षानुमानाभ्या परीक्षोपपद्यते।**

पहले आप्तवचन से ज्ञान करना चाहिए, फिर प्रत्यक्ष और अनुमान से उसकी परीक्षा करनी चाहिए। यह विकास का एक क्रम है। पहले ज्ञान होगा, आप्तवचन से। चरक में लिख दिया गया—अमुक वस्तु का सेवन करें, वायु का शमन होगा। यह आप्तवचन है। इस आप्तवचन की परीक्षा प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा करनी चाहिए। एक बहुत सुंदर व्यवस्था दी गई है कि आप्तवचन से पहले तथ्य को जानना चाहिए, फिर उसकी परीक्षा करनी चाहिए। उसकी परीक्षा के दो साधन हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान।

व्यक्ति इंद्रियों से शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि का ग्रहण करता है। वह मन से सुख-दुख का संवेदन करता है। ज्ञान का मूल स्रोत है—इंद्रिय ज्ञान। अनुमान इसी के आधार पर होता है। एक व्यक्ति ने देखा—जहां धुआं है, वहां आग है। उसने इस सचाई को अनेक बार देखा, देखता चला गया। देखते-देखते यह बात सही लगी और एक नियम बना दिया कि जहां धुआं है, वहां आग है। इस नियम को व्याप्ति कहा गया। व्याप्ति के आधार पर तर्क का विकास हुआ, तर्क के आधार पर अनुमान का विकास हुआ और जानने की एक पद्धति, परीक्षा की एक पद्धति निर्मित हो गई।

विकास परीक्षा से

जैन दर्शन षड् द्रव्यों की परीक्षा कर रहा है। नैयायिक दर्शन सोलह तत्त्वों की परीक्षा कर रहा है। वैशेषिक दर्शन सात तत्त्वों की परीक्षा कर रहा है। बौद्ध दर्शन चार आर्य-सत्यों की परीक्षा कर रहा है। मूल प्रवर्तकों द्वारा जो तथ्य मान्य थे, सारे दर्शनों का विकास उन्हीं की परीक्षा में हुआ है। केवल उनकी परीक्षा की गई। उन्हें सिद्ध करना, समर्थन देना—यही मुख्य उद्देश्य रहा। पुनर्जन्म किसी ने नहीं देखा, आत्मा को किसी ने नहीं देखा, कर्म के परमाणुओं को किसी ने नहीं देखा। किंतु, लोग उनका समर्थन करते चले जा रहे हैं। इसका अर्थ है—आगम में जो बताया गया है, उसकी कसौटी करते चले जा रहे हैं। आगम है—अतींद्रिय ज्ञान। पहले आगम पुरुष था और अब आगम शास्त्र को कहते हैं। जब आगम पुरुष नहीं रहे तब उनके द्वारा रचित श्रुत ही प्रमाण बन गया, उसी को मानकर चल रहे हैं।

दर्शन युग की अवधारणा

जब दर्शन युग का विकास हुआ, जैन आचार्यों ने एक नई अवधारणा प्रस्तुत की कि आगम सही है। किंतु कुछ बातें ऐसी हैं—जो हेतु के द्वारा समर्थित होती हैं। उनमें हेतु का भी प्रयोग करना चाहिए। जो हेतुवाद के पक्ष में हेतुवादी होता है और आगम के पक्ष में आगमवादी होता है, वह स्वसमय की प्रज्ञापना करने वाला है—

जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ, आगमे य आगमिओ।
सो ससमयपण्णवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो।।

यह एक बहुत प्रशस्त दृष्टिकोण है कि अतींद्रिय ज्ञान के विषय में आगम का सहारा लेना चाहिए और जो बातें इंद्रियगम्य हो सकती हैं, उनके लिए तर्कवाद का प्रयोग करना चाहिए। अन्यथा ग्रंथ एवं शास्त्र के नाम पर एक प्रकार का अंधविश्वास और रूढ़िवाद पनप जाता है।

शास्त्र : अतीत का संदर्भ

15वीं शताब्दी की घटना है। कुछ विद्वान मिले। प्रश्न था कि घोड़े के दांत कितने होते हैं? ढेर-सारे ग्रंथ लाए गए कि उन्हें देखकर उत्तर खोजा जाए। एक प्रबुद्ध युवक सामने बैठा था। उसने कहा—अरे! इसके लिए शास्त्र में क्या देखना है। घोड़ा सामने खड़ा है, दांत गिन लीजिए। विद्वानगण बोले—कितना बेवकूफ है! हमारे शास्त्रों की अवहेलना करता है।

यह कोरे शास्त्र की दुहाई है और इसके आधार पर इस प्रकार की स्थितियां बन जाती हैं।

शास्त्र प्रमाण नहीं है

जैन परंपरा में मूलतः शास्त्र को प्रमाण नहीं माना गया। महावीर की यह एक नई क्रांति थी। उन्होंने ग्रंथ का प्रमाण्य कभी नहीं माना। उन्होंने उस व्यक्ति को ही प्रमाण माना है, जिसके ज्ञान में कोई व्यवधान नहीं है। आगम-पुरुष नहीं है, किंतु उसने अपने अनुभव की वाणी में जो कहा है, वह दूसरे नंबर का प्रमाण है। उस अनुभव की वाणी के साथ बहुत-सारी प्रासंगिक बातें जुड़ जाती हैं और अन्य बातें भी जुड़ जाती हैं। जैसे आगमों में कहा गया कि राजगृह में एक झरना है। राजगृह से फलां नगर की दूरी कितनी है, कितने योजन की है। ये बातें इंद्रियगम्य बातें हैं। इनमें आगम की कोई अपेक्षा नहीं है। ये ऐसे विषय हैं, जिनकी हेतु के द्वारा परीक्षा की जा सकती है।

अध्ययन का दृष्टिकोण बदले

अनेक व्यक्ति आगम को परंपरागत ढंग से पढ़ते हैं। इस प्रकार पढ़ने की बहुत अधिक सार्थकता नहीं होती। आगम पढ़ने का दृष्टिकोण भी बदलना चाहिए। आज का युवक स्वयं बहुत पढ़ा-लिखा है। उसने ज्ञान का काफी विकास किया है। उसके सामने आगम की ऐसी बात कहें, जो तर्कसंगत या वैज्ञानिक न लगे, तो बड़ी समस्या पैदा हो जाती है। इसलिए आगम पढ़ने वालों को आज के विषयों को भी ज़ानना चाहिए। आज पुराने विषयों के बारे में क्या-क्या खोजें हो रही हैं, यह भी जानना चाहिए। साथ ही भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, मानसशास्त्र आदि-आदि जो विद्या की वर्तमान शाखाएं हैं, उनका भी सामान्य ज्ञान होना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो आगम को आज नए संदर्भ में प्रस्तुत किया जा सकता है।

दर्शन युग में जैन आचार्यों ने दर्शन के साथ संगति बिठाई। उसी तरह इस वैज्ञानिक युग में विज्ञान के साथ भी संगति बिठाना आवश्यक है। यह कहने में मुझे संकोच नहीं होता कि जैन धर्म के दार्शनिक आचार्यों ने जैन शासन के विकास के लिए जितना पुरुषार्थ किया था, आज के वैज्ञानिक युग में हम उतना पुरुषार्थ अभी नहीं कर पाए हैं। उन्होंने उस युग में नैयायिक दर्शन के साथ भी अपनी बात को जोड़ा, चाहे उसका खंडन किया या मंडन किया। वैशेषिक दर्शन और सांख्य दर्शन के साथ भी अपने दर्शन की तुलना एवं समीक्षा की। वेदांत और चार्वाक दर्शन की भी जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में मीमांसा की गई। आज विज्ञान की जितनी शाखाएं हैं, उनके साथ जैन दर्शन का विस्तृत विवेचन हम नहीं कर पाए हैं।

आज विज्ञान बहुत विकसित हो गया है। इस स्थिति में केवल पुरानी बातों के आधार पर ही विकास नहीं किया जा सकता। आज आगम को विज्ञान के संदर्भ में पढ़ना आवश्यक है। विज्ञान क्या कह रहा है और आगम में क्या कहा गया है? जब तक इन दोनों के अंतर को नहीं समझा जाएगा, आगम की इस वैज्ञानिक युग से संगति नहीं बिठाई जा सकेगी। अध्यात्म और विज्ञान में कहां सामंजस्य है और कहां सामंजस्य नहीं है—इस ओर भी ध्यान केंद्रित होना चाहिए। विज्ञान की कौनसी ऐसी बातें हैं, जिनके आधार पर आगम की बातों को सिद्ध किया जा सकता है—यह अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण बिंदु बन सकता है।

वैज्ञानिक युग : स्वर्ण युग

आगम में कहा गया कि एक सूई की नोक टिके उतने भाग में अनंत-अनंत वनस्पतिकायिक जीव होते हैं। इस बात को समझाने के लिए प्रज्ञापना के टीकाकार मलयगिरी ने अनेक उदाहरणों को प्रस्तुत किया है, किंतु आज उनकी जरूरत नहीं है। वर्तमान विज्ञान द्वारा उसे प्रमाणित किया जा सकता है। हमारा शरीर कोशिकाओं से बना है। एक सूई की नोक टिके उतने भाग में अरबों की संख्या में कोशिकाएं हैं, इस तथ्य को विज्ञान स्वयं सिद्ध कर चुका है। विज्ञान ने बहुत सूक्ष्म बातें प्रतिपादित की हैं। शायद वे पुराने तर्कों की अपेक्षा आज जैन दर्शन के लिए ज्यादा उपयोगी हैं।

मैं मानता हूं कि जैन दर्शन के लिए यह वैज्ञानिक युग जितना स्वर्ण युग है, उतना शायद पुराना युग नहीं रहा। पुराने युग में जैन दर्शन की सारी बातें गप्पें लगती थीं। आगम में कहा गया—असंख्य सूर्य हैं। एक सूर्य से दूसरा सूर्य बहुत दूरी पर है। आज विज्ञान के द्वारा प्रकाश वर्ष की दूरी और बीस-बीस करोड़ प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित

नीहारिकाओं का पता चल रहा है। इस वैज्ञानिक युग में अगम्य वस्तुएं गम्य बनती जा रही हैं। आगम में वर्णित तथ्यों को आधार मिल रहा है।

योगक्षेम वर्ष : सुचिंतित प्रयत्न का परिणाम

जैन दर्शन के लिए वैज्ञानिक युग एक स्वर्ण युग है, किंतु वह तभी हो सकता है जब इसका पूरा लाभ उठाया जा सके। अन्यथा यह स्वर्ण युग, कठिनाई का युग भी हो सकता है। अगर अध्ययन की गहराई आए, स्वाध्याय की प्रवृत्ति का विकास तन्मयता के साथ किया जाए तो सचमुच यह युग जैन दर्शन के लिए स्वर्ण युग बन जाए। ऐसा युग शायद जैन दर्शन के लिए पहले कभी नहीं आया। आचार्यश्री तुलसी ने इस की आवश्यकता का अनुभव किया। योगक्षेम वर्ष उसी का परिणाम था।

योगक्षेम वर्ष का उद्देश्य प्रमुखतः साधु-साध्वियों में अध्ययन का विकास रहा। साधु-साध्वी वर्ग में ध्यान की गहराई आए, जिससे वे इस वैज्ञानिक युग में अपने-आप को शक्तिशाली अनुभव कर सकें। केवल साधु-साध्वियों के लिए ही नहीं, श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी यह जरूरी बात मानी गई। जिन्हें जैन धर्म में आस्था है, जो जैन धर्म को वैज्ञानिक धर्म मानते हैं—वे श्रावक-श्राविकाएं भी इस दिशा में आगे बढ़ें, यह अपेक्षित माना गया। योगक्षेम वर्ष में उन विद्यार्थियों एवं पढ़े-लिखे तत्त्वज्ञ लोगों को चुना गया, जो इस वैज्ञानिक युग में धर्म-दर्शन को पढ़कर तुलनात्मक अध्ययन का लाभ उठा सकें। कहा जा सकता है कि योगक्षेम वर्ष एक सुचिंतित प्रयत्न का परिणाम रहा। आचार्यश्री तुलसी के शासनकाल की उपलब्धियों का इसे निचोड़ माना जा सकता है। तब इस पर गहराई से ध्यान केंद्रित होना अपेक्षित माना गया। कठिनाइयां झेलकर, कठोर श्रम से अपने ज्ञान एवं ध्यान की शक्ति को बढ़ाने वालों ने इसकी सफलता को असंदिग्ध बनाने का सुचिंतित प्रयास किया।

आज का आगम पुरुष

आगम पुरुष जैन परंपरा का एक विशिष्ट शब्द है, उसका एक विशेष अर्थ है। योगक्षेम वर्ष आगम पुरुष बनने की यात्रा का एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव बना। प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति के मन में यह सकंल्प जगा कि मुझे आगम पुरुष बनना है। केवलज्ञानी आगम पुरुष होता है, दश-पूर्वी आगम पुरुष होता है। किंतु, आज यह कहा जा सकता है कि जो आचारांगधर हो गया, जो सूत्रकृतांगधर हो गया—उसे आगम पुरुष मान लिया जाए। यानी व्यक्ति का आगम पर ऐसी गहराई से अध्ययन हो कि रात को उठा कर भी उसे आगम के किसी संदर्भ में पूछा जाए, तो तत्काल उत्तर उपलब्ध हो जाए। वह यह बता सके कि आचारांग का अन्य दर्शनों के साथ क्या संबंध है। आचारांग का आज के वैज्ञानिक युग के साथ क्या संबंध है, आचारांग का हठयोग के साथ क्या संबंध है। आचारांग का राजयोग के साथ क्या संबंध है। दर्शन, विज्ञान, योग आदि सारी प्राचीन और अर्वाचीन शाखाओं के संदर्भ में एक आगम को जो समग्रता से जान ले—उसे आगम पुरुष कहने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। ❖

अपनी तरफ से कुछ 'करने' की कोशिश मत करो और न कोई कल्पना थोपने की कोशिश करो। जो सचाई अपने-आप प्रकट हुई है उसे देखो और जानो। हमने कृत्रिम रूप से कुछ पैदा किया और उसे देखने लगे तो सत्य का दर्शन नहीं कर पाएंगे। फिर उलझ जाएंगे। इसलिए 'आपे आपि निरंजनु सोइ'—अपने-आप जो होता है, वह ईश्वर है, वह परमात्मा है। सत्य ही ईश्वर है। और इस सत्य के सहारे चलते-चलते परम सत्य तक पहुंच जाएंगे। परम सत्य ही परमेश्वर है—यह बात समझ में आ जाएगी। अन्यथा कोई काल्पनिक ईश्वर हमारे सिर पर सवार हो जाएगा; कोई काल्पनिक मुक्त अवस्था हमारे ऊपर सवार हो जाएगी; काल्पनिक निर्वाण हमारे ऊपर सवार हो जाएगा; हम सचाई से दूर हो जाएंगे।

—सत्यनारायण गोयन्का

जिस आत्म-चेतना के रहते मनुष्य को अपने होने का एहसास होता है, उसी के कारण उसे अपने अधूरेपन की विवशता भी महसूस होती है। यह नहीं कि वह अपने मनुष्यत्व को छोड़कर कुछ और होना चाहता है, बल्कि उसे स्वयं अपने मनुष्य होने की परिभाषा में कोई चीज छूटी हुई जान पड़ती है। एक अपूर्ण परिभाषा नहीं, बल्कि एक ऐसी परिभाषा, जिसका एक हिस्सा हम इतिहास की रोशनी में पढ़ पाते हैं, किंतु उसे पूरा करने वाला शेष अंश लिखित होता हुआ भी कहीं अंधेरे में छिपा है। हमें अनिवार्यतः इस प्रश्न का सामना करना पड़ता है कि अब तक जो मनुष्य की परिभाषाएं दी गई हैं, क्या वे संपूर्ण परिभाषाएं हैं? क्या वे अपने में उन समस्त अनुभवों को समाहित करती हैं, जो धरती पर एक ऐसे प्राणी को होते हैं जिसे हम 'मनुष्य' कहते हैं?

❑❑❑

धर्म, धर्मतंत्र और राजनीति

— निर्मल वर्मा

एक लंबी मुद्दत से मेरे लिए कुछ अनुभव बहुत अस्पष्ट और अशरीरी रहे हैं; कभी-कभी संशय भी होता है, कि उनमें मेरा विश्वास कितना वास्तविक और आत्मीय है—कितना सिर्फ दूसरों से ग्रहण किया हुआ, और कितना सिर्फ विश्वास करने की आकांक्षा से उत्प्रेरित हुआ है। मैं कोशिश भी करता हूं, तो उनके पीछे कोई युक्ति, कोई तर्क, कोई ठोस कार्य-कारण प्रणाली नहीं ढूंढ़ पाता। बुरे और अंधेरे क्षणों में यह भी संदेह होता है कि ये अनुभव असल में मेरे भीतर के माया-संसार की धुंध मात्र हैं, जो यथार्थ का जरा-सा धक्का खाते ही धुल जाएंगे—मुझे उतना ही अकेला छोड़कर, जितना अकेलापन एक आदमी को अपनी जिंदगी में भोगना पड़ता है।

मुझे शुरू में ही कह देना चाहिए कि इन अनुभवों में मेरे लिए सबसे अधिक जीवंत और प्रमुख दो तरह के अनुभव रहे हैं—एक वह, जो किसी विराट कलाकृति के समक्ष महसूस होता है—अचानक किसी संगीत-अंश को सुनते हुए, किसी चित्र को देखकर या मेरे लिए विशेषकर सबसे अधिक उद्वेलित करने वाला अनुभव—जो किसी कविता या महान उपन्यास को पढ़ते समय होता है। हम ऐसे अनुभवों को संकीर्ण ढंग से सौंदर्यमूलक अनुभव कहकर संतुष्ट हो लेते हैं, किंतु यह अनुभव महज सौंदर्य भोगने से कहीं ज्यादा संश्लिष्ट और पेचीदा है।

—गांधी जयंती—
बापू का स्मरण करते हुए

किंतु यहां मैं एक दूसरी तरह के अनुभव का उल्लेख करना चाहूंगा—जो अपनी गहनता, व्यापकता और 'इंटेंसिटी' में कलात्मक अनुभव के बहुत समीप है, किंतु उससे बहुत अलग भी; यह एक ऐसा विचित्र अनुभव है, जो अपनी उपस्थिति से हमें संपन्न नहीं बनाता, उलटे वह एक विराट अनुपस्थिति से साक्षात करवाता है। एक गहरे अभाव का अनुभव—जिसे इस धरती पर अपने अकेलेपन में ठिठुरता सिर्फ एक मनुष्य महसूस कर सकता है। हम सिर्फ उस 'चीज' का अभाव महसूस करते हैं, जो पहले कभी उपस्थित थी, हमारे होने के साथ जुड़ी थी—और अब वह नहीं है। यह विचित्र विरोधाभास है कि पशु, पक्षी, पेड़ जिस आत्म-सहजता के साथ अपने को समय और सृष्टि के साथ जुड़ा पाते हैं—मनुष्य उतना नहीं—जिस आत्म-चेतना के रहते मनुष्य को अपने होने का एहसास होता है, उसी के कारण उसे अपने अधूरेपन की विवशता भी महसूस होती है। यह नहीं कि वह अपने मनुष्यत्व को छोड़कर कुछ और होना चाहता है, बल्कि उसे स्वयं अपने मनुष्य होने की परिभाषा में कोई चीज छूटी हुई जान पड़ती है। एक अपूर्ण परिभाषा नहीं, बल्कि एक ऐसी परिभाषा, जिसका एक हिस्सा हम इतिहास की रोशनी में पढ़ पाते हैं, किंतु उसे पूरा करने वाला शेष अंश लिखित होता हुआ भी कहीं अंधेरे में छिपा है। हमें अनिवार्यतः इस प्रश्न का

सामना करना पड़ता है कि अब तक जो मनुष्य की परिभाषाएं दी गई हैं, क्या वे संपूर्ण परिभाषाएं हैं? क्या वे अपने में उन समस्त अनुभवों को समाहित करती हैं, जो धरती पर एक ऐसे प्राणी को होते हैं जिसे हम 'मनुष्य' कहते हैं? और तब हमें सहसा पता चलता है कि मनुष्य की समस्त परिभाषाएं उसके और सृष्टि के बीच संबंधों को उद्घाटित करती हैं—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह एक ऐसा प्राणी है, जो औजार बनाता है, वह जो आने वाले कल और बीते हुए समय का बोध रखता है, वह प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है—वह भाषा ईजाद करता है, ताकि अपने आशय और अर्थों को दूसरे तक संप्रेषित कर सके—एक सामाजिक, ऐतिहासिक, तार्किक, संप्रेषणशील प्राणी—जिसे हम मनुष्य कहते हैं। मनुष्य कहां दूसरों से भिन्न है, इस जिज्ञासा का उत्तर हमें इन परिभाषाओं में मिलता है, किंतु स्वयं इस जिज्ञासा का जीवट अनुभव कि मनुष्य अपने में क्या है—हमें नहीं मिलता। इसलिए ये परिभाषाएं अधूरी हैं और तब तक अधूरी रहेंगी जब तक पूछने वाला मनुष्य यह पूछे, कि मैं कौन हूं, जो मनुष्य का अर्थ जानना चाहता हूं?

मुझे लगता है कि हम जिसे धर्म या धार्मिक अनुभव कहते हैं, उसका मूल स्रोत इस प्रश्न में छिपा है। यह प्रश्न केवल मनुष्य के बारे में नहीं है, उन सब परिभाषाओं के अधूरे और अंधेरे पक्ष के साथ भी जुड़ा है, जो अब तक मनुष्य के संबंध में दी गई हैं। कितनी अजीब बात है कि सब धर्मतंत्र मनुष्य को प्रकाश देने का दावा करते हैं, किंतु जिस अंधेरी आकुलता और अकेलेपन के बीच धर्म का बीज गड़ा है, उसे कोई परिभाषित नहीं करना चाहता। यह वही आतप्त, बदहवास और मर्मांतक आकुलता है जिसे किसी ने आत्मा की अंधेरी रात (डार्क नाइट ऑफ द सोल) कहा है—जिसकी झलक हमें पास्कल के चिंतन में, दोस्तोएव्स्की और टॉलस्टॉय के उपन्यासों में, सिमोन वायल की असह्य आत्म-यातना, रामकृष्ण परमहंस के आरंभिक जीवन की आर्त-विह्वलता में दिखाई दे जाती है; आज हमारे बीच सैकड़ों धर्मतंत्र हैं, किंतु मनुष्य की आदिम जिज्ञासा की वेदना ज्यों-की-त्यों है।

यह वेदना कहीं बाहर से नहीं उपजती—मनुष्य की इसी जिज्ञासा के भीतर सन्निहित है; ये प्रश्न पूछते ही कि मैं क्या हूं, कौन हूं, किसलिए इस धरती पर आया हूं, मेरे होने का क्या अर्थ है—मनुष्य को समूची सृष्टि से अलग कर देते हैं, किंतु यह भी संभव है कि वह सृष्टि से अलग है, इसलिए ये प्रश्न पूछता है? कुछ भी हो, किंतु इस अलगाव के कारण मनुष्य अपनी आंखों में एक संदिग्ध प्राणी बन जाता है! समूची सृष्टि का साक्षी मनुष्य हो सकता है, किंतु मनुष्य का साक्षी कौन है? मनुष्य सब वस्तुओं, प्राणियों, प्राकृतिक शक्तियों को नाम देता है, किंतु जब मनुष्य को नाम देने का प्रश्न आता है, तो समूची सृष्टि चुप रहती है। हिंदू धर्म के बारे में कहा जाता है कि यह नाम उसका अपना नहीं है, दूसरों ने दिया है; किंतु क्या यह सत्य मनुष्य मात्र पर लागू नहीं होता—दो पैरों पर चलने वाले इस जीवन को मनुष्य का नाम किसने दिया है? यदि समूची सृष्टि चुप है और मनुष्य को नाम देने वाला कोई नहीं—सिवाय स्वयं मनुष्य के—तो हम एक असाधारण सत्य की ओर पहुंचते हैं कि मनुष्य में एक ऐसी शक्ति है—जो किसी अन्य पशु या प्राणी में नहीं—जो उसे अपने से बाहर स्वयं अपने को देखने के लिए सक्षम बनाती है। वह द्रष्टा ही नहीं, आत्मद्रष्टा है; और ज्यों ही हम 'आत्मद्रष्टा' का नाम लेते हैं, पहली बार एक धुंधला-सा बोध होता है, कि मनुष्य का यह आत्म—सिर्फ उसका मैं, अहं या ईगो नहीं—उससे कुछ बड़ा है, वृहत्तर है, अधिक है....क्या यही बोध मनुष्य को पहली बार उस अजीब, रहस्यमय अनुभव से साक्षात नहीं कराता, जिसे 'ईश्वर' कहा जाता है?

मनुष्य यदि अपने को बाहर से देख सकता है, तो यह 'बाहर' असीम और विराट है और थोड़ा-सा भयानक भी। किंतु जब वह बाहर से अपने को देखता है तो वह अपने को समूची सृष्टि से जुड़ा हुआ भी पाता है; अकेलेपन के भय के साथ एक दूसरी भावना का जन्म होता है—लगाव। यह एक असाधारण अनुभूति है; ईश्वर अदृश्य है—किंतु सृष्टि प्रत्यक्ष है, मांसल है, सामने है...वह एक ऐसी किताब है, जिसमें लगाव से उपजा प्रेम और आत्म का अदृश्य बोध, दोनों ही पहली बार अपनी भाषा ग्रहण करते हैं। इसलिए कुछ धर्मों के टेक्स्ट 'मंत्र' कहलाते हैं; हम जो दोहराते हैं, स्वयं उसमें ध्वनित होते हैं, दुनिया ही एक ऐसी निराली किताब है, जिसे पढ़ते हुए लगता है कि यह मैं हूं, जिसे पढ़ा जा रहा है।

सब धर्म-संप्रदायों के अपने धर्मग्रंथ हैं, किंतु मनुष्य का धर्मग्रंथ सिर्फ यह सृष्टि है, जिसके बिना ईश्वर की अवधारणा असंभव होती। क्या यह कारण नहीं है कि विभिन्न धर्मों के सिद्धांत एक-दूसरे से भिन्न हो सकते हैं, किंतु एक भाव शाश्वत रूप से सबमें समान रूप से रहता है—पवित्रता का भाव? चीजों की अपनी जन्मजात मर्यादा

है, वे अपने अस्तित्व में स्थिर प्रतिज्ञ हैं—पवित्रता का भाव इस विश्वास में निहित है। यह उस पश्चिमी धारणा से बिल्कुल मेल नहीं खाता, जिसके अनुसार मनुष्य सृष्टि के केंद्र में है, सब चीजों का मापदंड; जब हम मनुष्य को सर्वोपरि मान लेते हैं, तो उस वृहत्तर शक्ति का कुछ क्षय तो होता ही है, जो मनुष्य को समूची सृष्टि के साथ जोड़ती है—बल्कि प्रकृति की मर्यादा भी नष्ट होती है जिसमें हर पशु-पक्षी, प्राणी अपनी स्वायत्त गरिमा में जीता है। यूरोप में रेनेसां के बाद जिस मनुष्य-केंद्रित संस्कृति का सूत्रपात हुआ, उसमें मनुष्य नहीं, उसमें अहं का प्रभुत्व था। पहली बार मनुष्य के अहं और आत्मन् में एक फांक दिखाई दी, जिसका भीषण परिणाम हम आज भुगत रहे हैं। अपने को मानववादी कहने वाला दर्शन किस तरह स्वयं मानव को सिर्फ उसके अहं में सिकोड़कर उसकी समग्र और अखंडित गरिमा को विपन्न बनाता है—यह इतिहास का एक सबसे त्रासदाई विरोधाभास रहा है।

किंतु मैं एक बार फिर पवित्रता बोध की ओर लौटना चाहूंगा, क्योंकि उसे समझे बिना हम उस विशिष्ट 'दृष्टि' का मूल्य नहीं समझ पाएंगे, जो धर्मबोध से उत्पन्न होती है। हमने ऊपर देखा है कि मनुष्य में पहली बार ईश्वर की अवधारणा उसके आत्म की विस्तृत चेतना के भीतर ही जाग्रत हुई थी—एक ऐसी अतिरिक्त शक्ति जो मनुष्य को मनुष्य से इतर सृष्टि से जोड़ती है। अब मनुष्य एक नामहीन, अनाथ और अकेला प्राणी नहीं रहता, समूची सृष्टि के कार्यकलाप का महज दर्शक मात्र नहीं, बल्कि उसमें सक्रिय रूप से हिस्सा बंटाता है; यह उसके जीवन-निर्वाह के लिए ही नहीं, जीवन-अर्थ के लिए भी अनिवार्य है। पहले उसके कर्म का कोई साक्षी नहीं था, इसलिए उसे अपना समूचा अस्तित्व एक प्रयोजन-रिक्त, चारी कृति जान पड़ती थी, किंतु इस आंतरिक चेतना के भीतर (हम उसे ईश्वर कहें या कुछ और, इससे अंतर नहीं पड़ता), अब उसे न केवल जन्म से मृत्यु तक फैला अपना जीवन, बल्कि अपने चारों ओर फैली विराट प्रकृति और समूची सृष्टि अर्थों से भरे जान पड़ते हैं। मनुष्य और सृष्टि के बीच फैला अथाह मौन अचानक टूट जाता है और जहां शून्य था, वहीं अब समूचा परिदृश्य संकेतों, अर्थों, गोपनीय रहस्यों से भरा दिखाई देने लगता है। पहली बार सृष्टि एक 'कृति' में बदल पाती है—मनुष्य को वैसे ही अभिभूत, आलोड़ित और रोमांचित करती हुई—जैसे हम किसी विराट कलाकृति के समक्ष महसूस करते हैं। दुनिया अब एक खाली पन्ना नहीं, विचित्र संकेतों से लिखी एक पूरी किताब जान पड़ती है—एक खुली किताब—जिसका लेखक अदृश्य है, किंतु ज्यों-ज्यों हम इन संकेतों का अनुवाद करते जाते हैं, उतना ही उसका लेखक एक विशिष्ट किस्म की दृश्यता ग्रहण करने लगता है। हर धर्म इसी किताब की टीका है, अनुवाद है, व्याख्या है। अनुवाद की भाषा एक-दूसरे से कितनी ही भिन्न हो, किंतु पुस्तक आज भी वही है, जो हजारों वर्ष पहले थी।

यहीं पर हर धर्म के कर्मकांड, अनुष्ठानों-व्रतों, बिंबों और प्रतीकों का महत्त्व उद्घाटित होता है। हम आधुनिक बुद्धिजीवी प्रायः किसी धर्म के कर्मकांड को महज 'बाहरी आडंबर', उसका केवल ऊपरी और उथला पक्ष मानकर उपेक्षा करते हैं और उसे धर्म के किसी अंदरूनी सत्य से अलग कर देना चाहते हैं; यह कुछ वैसा ही है जैसे हम किसी कविता के अर्थ को उसकी भाषा से अलग करके देखने की चेष्टा करें। धर्म ही नहीं, किसी भी अनुभव का सत्य केवल उसके बाहरी रूपों में उद्घाटित होता है—स्वयं 'शब्द' ही अपने में उस सत्य का उद्घाटन है, जो उसके भीतर छिपा है। कितना अजीब है, हम छिपे हुए सत्य को ढूंढ़ना चाहते हैं, किंतु उस रूप की उपेक्षा करते हैं, जिसमें वह उद्घाटित हुआ है। किसी देवता की मूर्ति अपनी प्रतीकात्मकता में उतनी ही अर्थवान है, जितना कुरान और बाइबिल में लिखा हुआ शब्द; दोनों ही अपने रूप में उसी सत्ता को आलोकित करते हैं, जो अदृश्य है। इसीलिए धर्म के बाहरी रूप किसी भी आस्थावान व्यक्ति के लिए इतने पवित्र और महत्त्वपूर्ण होते हैं। ऑस्कर वाइल्ड ने एक बार कहा था, 'खोखले लोग ही प्रकट के आधार पर निर्णय नहीं लेते। संसार का रहस्य उसमें है, जो प्रकट है, अप्रकट में नहीं।' इस संसार को 'माया' जरूर माना जाता रहा है, किंतु माया के संकेत समझे बिना संसार का सत्य समझ में आ सकता है, मुझे इसमें गहरा संदेह है।

ऑस्कर वाइल्ड ने जिसे 'प्रकट' (एपीयरेंस) कहा है, हमारे यहां वही 'लीला' में अवतरित होता है : हम एक पुराने सत्य को अपने समय में दोहराते हैं, ताकि हम उसकी पवित्रता में पुनः पैठ सकें। रामलीला का 'राम' कलियुग का प्राणी है जो हमें त्रेता के राम से साक्षात करवाता है। किंतु, यदि वही व्यक्ति जो राम की भूमिका निभाता है, 'रामलीला' के बाहर अपने को राम कहने का दावा करे, तो उसे कोई स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि लीला का पवित्र समय, दुर्भाग्यवश धीरे-धीरे जीवन के सेक्यूलर समय से

अलग होता गया है। धर्मों के बीच वैषम्य का यह एक बड़ा कारण रहा है कि हर धर्म-प्रतिष्ठान अपने पवित्र समय में अर्जित किए हुए सत्य को बाकी दुनिया के सांसारिक समय पर आरोपित करना चाहता है, जबकि सच्चे धार्मिक बोध का तकाजा यह है कि वह दुनिया के सांसारिक समय को लीला के शाश्वत सत्य में परिणत कर सके। धर्म की यह आधुनिक विडंबना है कि लोग ईसाई, मुसलमान, हिंदुओं की हैसियत से गिरजों, मस्जिदों, मंदिरों में जाते हैं—किंतु भीतर जाकर वे जिस धर्म की आदिम स्मृति को अपनी प्रार्थना में जाग्रत करते हैं, वह देहरी के बाहर आते ही सांसारिक समय के उजाले (या अंधेरे) में धूमिल पड़ जाती है। हम एक तरफ स्मृतिहीन अनुभव और दूसरी तरफ अनुभवहीन स्मृति में जीते हैं। एक धर्मविश्वासी की संकीर्णता या कट्टरता इससे साबित नहीं होती, कि वह अपने धर्म के कर्मकांड या अनुष्ठानों से चिपका है—वे तो उसके धर्म की भाषा हैं, जिसमें उसके धर्म का सत्य छिपा है; एक धर्मावलंबी व्यक्ति की दयनीयता उसकी कट्टरता में नहीं, विस्मृति में है; वह अपने धर्म की भाषा तो पढ़ता है, किंतु उसके प्रतीकों और संकेतों के अर्थ को भूल गया है।

एक धर्मतंत्र और कुछ नहीं, इन्हीं संकेतों और प्रतीकों को एक स्थान में संयोजित करने का प्रयास है। मैंने जान-बूझकर 'स्थान' शब्द का प्रयोग किया है, एक मंदिर या गुरुद्वारा सिर्फ पूजा के स्थान नहीं हैं, वे चार सीमाओं के बीच पवित्र समय को रूपायित करते हैं, तंत्र का मतलब ही सीमावृत होना है। जब कोई 'स्थान' किसी विश्वास या मर्यादा को अपने भीतर प्रतिष्ठित करता है, तभी वह 'संस्थान' बन पाता है। ईसा ने कहा था, जहां तीन-चार लोग जमा हों, मैं वहां उपस्थित हूं। वह स्थान अपने में पवित्र हो जाता है। दिल्ली के गांधी शांति प्रतिष्ठान में—गांधीजी का चित्र है, बाहर हॉल में उनकी पुस्तकें हैं; चौबीस घंटों में हम कितनी बार गांधी को याद करते हैं? किंतु, यहां—इस स्थान में आते ही, हमेशा मेरी सब स्मृतियां, अनुभव, अपने से की गई प्रतिज्ञाएं, इस एक व्यक्ति पर केंद्रित हो जाती हैं। एक ऐसा स्थान—जहां पहुंचते ही हमारा बिखरा हुआ, विशृंखलित, औसत जीवन एक असाधारण सत्य पर बिंध जाता है। मैं किसी ईश्वर या धर्म-प्रतिष्ठान का अनुकरण नहीं करता, किंतु यही अलौकिक बोध मुझे कैथोलिक गिरजों या रामकृष्ण मिशन की इमारत में महसूस होता है। ठीक यहीं एक तंत्र और संस्थान का अंतर्विरोध भी प्रकट होता है। ईसा, गांधी या नानक भटकते हुए लोग थे, वे किसी गिरजे, गुरुद्वारे या संस्थान में स्थिर हो नहीं सकते, विरोधाभास यह है, कि मेरी भटकती हुई आत्मा इसी गिरजे, गुरुद्वारे, राजघाट के भीतर ही स्थिरता ग्रहण कर पाती है। क्या हम दो जीवन जीते हैं—जिनका एक-दूसरे से कोई संबंध नहीं? हम अपनी प्रार्थना और आकांक्षाओं में एक अखंडित, अविभाजित जीवन जीने का स्वप्न देखते हैं, जबकि हमारा व्यावसायिक और सांसारिक जीवन हर कदम पर इसी स्वप्न को विकृत, खंडित और दूषित करता रहता है! हमारे धर्म-तंत्र और लौकिक संसार के बीच जो इतनी गहरी खाई फैल गई है, क्या इसे कभी नहीं पाटा जा सकता?

इस प्रश्न का उत्तर खोजते समय हमारा साक्षात उस 'शक्ति' से होता है, जिसे इस निबंध के शीर्षक में 'राजनीति' कहा गया है। राजनीति का तंत्र एक विशिष्ट समाज में मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों को निर्धारित करता है। इस प्रक्रिया में उन नियमों, विधियों और कानूनों का विधान बनता है, जो उन आदर्शों को रेखांकित करते हैं, जिनसे कोई राज्य सत्ता अपनी वैधता (लेजिटिमेसी) प्राप्त करती है। राज्य सत्ता के ये दो पहलू महत्त्वपूर्ण हैं—आदर्श और बल-प्रयोग—बल-प्रयोग, जो वर्तमान में किया जाता है; आदर्श, जो अमूर्त है और जो कहीं भविष्य में निहित है। फ्रांसीसी क्रांति के बाद शायद ही कोई ऐसी राज्य सत्ता हो, जिसने कुछ आदर्शों के नाम पर अपनी वैधता न साबित की हो। राजनीति को मनुष्य के जीवन में हस्तक्षेप करने का औचित्य भी इन्हीं आदर्शों से प्राप्त होता है।

किंतु, यहां एक अजीब समस्या उत्पन्न हो जाती है। जिन आदर्शों से एक राज्य सत्ता मनुष्य का जीवन निर्धारित करती है—उनकी अपनी वैधता का स्रोत कहां है? हमें मालूम है, एक समय में राज्य-सम्राट अपनी सत्ता का स्रोत दैवी मानते थे, लेकिन बेचारी प्रजा के लिए अक्सर राजा की अपनी स्वार्थपरक इच्छा और उसके ईश्वरीय स्रोत के बीच भेद करना असंभव हो जाता था; इसलिए बाद में ईश्वर की जगह 'जन' ने ले ली; क्रांति का स्रोत जन-इच्छा (रूसो की जनरल विल) में निहित था। यही 'जन-इच्छा' कैसे एक दल और फिर एक व्यक्ति की निरंकुश इच्छा में सिकुड़ती गई, मैं यहां इसकी तफसील में जाना नहीं चाहता। इस तथाकथित जन-इच्छा को कैसे एक आतताई सर्वसत्तावादी व्यवस्था में विकृत किया जा सकता है, हमारे समय में सोवियत क्रांति इसका प्रत्यक्ष उदाहरण

है। इसलिए पिछले दो सौ वर्षों के कटु अनुभव के बाद आज यह प्रश्न फिर उठ खड़ा हुआ है कि यदि राज्य-शक्ति का स्रोत न किसी दैवी सत्ता में है, न जन जैसी अमूर्त भीड़ में, तो वह किस नैतिक आधार पर मनुष्य के जीवन में हस्तक्षेप कर सकती है? वह कौन-सा स्रोत बचा रहता है, जहां से राज्य या शासन-सत्ता अपनी प्रामाणिक वैधता प्राप्त कर सकती है?

इसका एक उत्तर उन्नीसवीं शताब्दी के उन मनीषियों ने दिया था, जिन्हें हम—काफी गलत नाम से—एनार्किस्ट या अराजकतावादी मानते आए हैं। ये लोग राज्य को एक हिंसात्मक और अमानवीय सत्ता मानते थे—और उसके उन्मूलन में ही मनुष्य की मुक्ति खोजते थे। आज जिस भीषण रूप से राज्य की राक्षसी सत्ता फैली है, उसे देखते हुए इन मनीषियों का राज्य के प्रति संदेह मार्क्स की उस सरल आशावादिता से कहीं अधिक सही जान पड़ता है, जो सोचते थे कि क्रांति के बाद राज्य-सत्ता अपने-आप लुप्त हो जाएगी। राज्य-सत्ता अपने में पाप है, चाहे उसके उद्देश्य और आदर्श अपने में कितने उदात्त क्यों न हों। उसका पाप सिर्फ इसमें निहित नहीं है कि वह बल-प्रयोग और हिंसा पर आधारित है, बल्कि इसमें भी है कि वह मनुष्य की स्वतंत्रता पर आघात करती है—जो अपने में एक स्वयंसिद्ध सत्य है।

अराजकतावादी चिंतकों का मनुष्य की स्वतंत्रता को महत्त्व देना अपने में एक मूल्यवान सत्य था, किंतु एक धर्मनिरपेक्ष समाज, जहां मनुष्य के आत्म और उसके अहं के बीच कोई सार्थक संबंध न हो, सिर्फ ऐसे अकेले व्यक्ति को जन्म दे सकता है, जिसके लिए स्वयं अपनी स्वतंत्रता एक बोझ बन जाती है। वह अपने बोझ से मुक्ति पाने के लिए किसी भी सत्ता, दल, नायक, 'डिक्टेटर' या संप्रदाय के प्रति अपनी स्वतंत्रता को समर्पित कर देता है—ताकि वह अपने से बड़ी किसी वृहत्तर शक्ति से जुड़कर सुरक्षित महसूस कर सके। इतिहास का यह एक ऐसा दुष्चक्र है जहां व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता को पाते ही उसे खोने का उपाय ढूंढ़ने लगता है। राज्य की सत्ता और तानाशाही के बीज कहीं बाहर से नहीं आरोपित किए जाते, स्वयं मनुष्य के भीतर से उगते हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता उस परिवेश में बहुत कमजोर पड़ जाती है, जहां मनुष्य अपने आत्म से विलगित हो गया है; एक आत्महीन व्यक्ति की स्वतंत्रता उस आहत पक्षी की तरह है, जिसके पंख तो हैं, किंतु उड़ नहीं सकता; इसीलिए कोई भी सर्वसत्तावादी शक्ति एक बाज की तरह उसे अपने पंजे में दबोच सकती है। मनुष्य की स्वतंत्रता का स्रोत केवल व्यक्ति का आत्म हो सकता है, किंतु कोई ऐसा राजनीतिक दर्शन नहीं, जो इस आत्म की समुचित परिभाषा देता हो।

व्यक्ति की संदिग्ध स्वतंत्रता और राज्यतंत्र की संदिग्ध वैधता—इन दो चरमों के बीच झूलते हुए मनुष्य निरंतर झूठे मसीहाओं और आततायी व्यवस्थाओं का शिकार होता रहा है। इसीलिए लोकतांत्रिक व्यवस्था अन्य शासन तंत्रों की अपेक्षा अधिक मानवीय, दायित्वपूर्ण और संवेदनशील जान पड़ती है—वह किसी अमूर्त सिद्धांत या आदर्श की मरीचिका के पीछे न भागकर मनुष्य जैसा है, उसे वैसा स्वीकार करती है, इसलिए किसी भविष्य के 'यूटोपिया' की वेदी पर उसके वर्तमान को बलिदान नहीं करती।

लेकिन, अपनी मानवीयता के बावजूद वह 'वर्तमान' कितना विपन्न, जर्जरित और सूखा है—इसका अनुमान लगाना भी कठिन नहीं है। मनुष्य के कितने ही मर्मशील, मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण अनुभव आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था के भीतर अतृप्त, दमित और बांझ पड़े रहते हैं। वह जो जीवन जीता है, उसकी संपूर्णता और सचाई में उसे विश्वास नहीं; वह जिन मूल्यों पर विश्वास करना चाहता है, वे उस व्यवस्था में उपलब्ध नहीं। एक तरफ सोवियत व्यवस्था है, जिसमें मनुष्य की स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं; दूसरी तरफ लोकतांत्रिक व्यवस्था है, जिसमें मनुष्य स्वतंत्र है, किंतु स्वयं स्वतंत्रता के मूल्य के प्रति वह बहुत आश्वस्त नहीं जान पड़ता। एक व्यवस्था अपनी वैधता भविष्य में ढूंढ़ती है, दूसरी व्यवस्था एक ऐसे वर्तमान में रहती है, जहां व्यक्ति के सब आयाम और आदर्श उसके निजी-निजी मामले हैं, जिनका समाज से कोई संबंध नहीं है। किंतु, इस बुनियादी अंतर के बावजूद दोनों व्यवस्थाओं में एक चीज आश्चर्यजनक रूप से समान है—दोनों ही के लिए मनुष्य एक साधन है—अंतिम रूप से साध्य नहीं। लोकतंत्र के लिए 'औसत व्यक्ति' (एवरेज मैन) और तथाकथित कम्युनिस्ट समाज के लिए 'आदर्श कम्युनिस्ट'—वही है, जो अपने समूचे मनुष्यत्व को एक उपयोगी साधन के रूप में घटा सके। आधुनिक राज्य-व्यवस्थाओं की यह तार्किक परिणति है कि समूची सृष्टि पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद जिस 'मनुष्य' के लिए विजय पाई है, वहां स्वयं मनुष्य के लिए कोई स्थान नहीं है। एक धार्मिक तंत्र में ईश्वर अदृश्य होने पर भी हर जगह मौजूद था, आधुनिक मानववादी सभ्यता में मनुष्य हर जगह

दिखाई देता है, किंतु वह मौजूद कहीं भी नहीं है....मौजूद, एक निरीह पराश्रित व्यक्ति की तरह नहीं, बल्कि एक संपूर्ण मनुष्य की गरिमा से संपन्न।

इस दुनिया में मनुष्य एक संपूर्ण मनुष्य की तरह मौजूद रहे—हर राजनीतिक तंत्र के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। यह चुनौती केवल वही राजनीतिक दर्शन स्वीकार कर सकता है, जो मनुष्य को संपूर्ण और अंतिम रूप में स्वीकार करे—महज एक साधन या माध्यम के रूप में नहीं। ठीक इसी बिंदु पर यह राजनीतिक दर्शन उस धार्मिक बोध की अभिव्यक्ति बन जाता है, जो मनुष्य को चिरंतन काल से सृष्टि से जोड़ता आया है। धार्मिक बोध से मेरा अभिप्राय किसी एक खास धर्म या संस्थान से नहीं है, बल्कि उस धीमी आवाज से है जिसने पहली बार मनुष्य और सृष्टि के बीच फैले अंधेरे मौन को तोड़ा था। यह उस शक्ति की आवाज थी, जिसे हम ईश्वर कहते हैं या उस मनुष्य की, जो पहली बार अपनी शक्ति से परिचित हुआ था—कहना असंभव है। वह किसी की भी आवाज हो, किंतु इस धरती पर मनुष्य की उपस्थिति की ओर संकेत करती थी—मानो सृष्टि के उस अथाह मौन में मनुष्य ने कहा हो कि मैं हूं और दूर से उसकी प्रतिध्वनि सुनाई दी हो—हां, तुम हो! मनुष्य और सृष्टि—आवाज और प्रतिध्वनि—का संबंध एक ओर सृष्टि को पवित्र बनाता है, दूसरी तरफ मनुष्य को संपूर्णता देता है। कोई भी राज्य-सत्ता, जो इस शाश्वत संबंध को धुंधलाती या झुठलाती हो, चाहे वह किसी भी आदर्श, सिद्धांत या वाद के नाम पर हो—न केवल मनुष्य के जीवन को निर्धारित करने का अधिकार खो देती है, बल्कि मनुष्य के परिवेश में उसका हस्तक्षेप एक तरह का हिंसात्मक आघात (वॉयलेशन) हो जाता है।

शायद हम अब उस प्रश्न के उत्तर के पास पहुंच गए हैं—जो कुछ देर पहले हमने राजनीतिक सत्ता की वैधता के बारे में पूछा था। यह वैधता निर्धारण में नहीं, स्वीकृति से उत्पन्न होती है। वह कानूनों, नियमों और आदेशों द्वारा मनुष्य के संबंधों को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उन संबंधों को स्वीकार करके चलती है, जो मनुष्य ने अपने भीतर नियमों द्वारा नहीं, निष्ठाओं द्वारा प्रतिष्ठित किए हैं। निष्ठाओं के परिवेश में मनुष्य और समाज, मनुष्य और प्रकृति, मनुष्य और उसकी दुनिया एक-दूसरे से अलग नहीं हैं; वहां मनुष्य का जीवन 'सेक्यूलर' और धार्मिक खंडों में विभाजित नहीं है, जो सप्ताह में रविवार की सुबह कुछ घंटों के लिए समन्वित है और बाकी दिनों में एक-दूसरे को छूता भी नहीं।

अतः आज प्रश्न यह नहीं है कि राजनीति को धर्मावलंबी होना चाहिए या धर्मनिरपेक्ष—क्योंकि दोनों ही संज्ञाएं आधुनिक मनुष्य की खंडित मानसिकता का बोध कराती हैं, जबकि जिस धार्मिक बोध का उल्लेख हमने किया है, वहां इस तरह का विभाजन ही कृत्रिम और अर्थहीन है। इस विभाजन के कारण ही मनुष्य का संपूर्णता-बोध और प्रकृति की पवित्रता—दोनों ही अवमूल्यित होते हैं। यह एक विडंबना ही है कि पश्चिम में जिसे एक तरफ मनुष्य का आध्यात्मिक संकट और दूसरी तरफ पर्यावरण का संकट माना जाता है—उन्हें अलग-अलग उपायों से नहीं सुलझाया जा सकता—क्योंकि दोनों की जड़ें एक ही विभाजित मनःस्थिति में मौजूद हैं; यह वह स्थिति है, जब मनुष्य का 'आत्म' महज उसका 'अहं' रह गया और प्रकृति अपनी स्वायत्तता खोकर केवल एक उपयोग्य, शोषित वस्तु। मनुष्य ने जिस प्रगति की लालसा में प्रकृति को अपना दास बनाया था, वही प्रगति आज प्रकृति के विनाश और समूची मानव सभ्यता को आत्मसंहार की ओर ले जा रही है।

यही कारण है कि धर्म और राजनीति का संबंध आज मात्र एक समाजशास्त्रीय बहस न रहकर स्वयं मनुष्य जाति और उसकी सृष्टि के जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके सामने अब तक हुईं इतिहास की समस्त क्रांतियां अप्रासंगिक बन गई हैं—क्योंकि हर क्रांति मनुष्य के अंतहीन विकास और सृष्टि की शाश्वत निरंतरता को स्वयंसिद्ध सत्य मानकर चलती थी। आज इन दोनों सत्यों के आगे प्रश्नचिह्न लग गया है। आधुनिक व्यक्ति धर्म के अंधविश्वासों पर हंसता आया था, आज के अणु युग में, जहां समूची धरती और मानवीय सभ्यता एक-दो मिनट में नष्ट हो सकती हैं—इन क्रांतियों के प्रगतिवादी अंधविश्वास कहीं ज्यादा हास्यास्पद साबित होते, यदि वे इतने दारुण परिणामों से न भरे होते।

क्या आत्मघात की इस अंधी प्रक्रिया को नहीं रोका जा सकता? यह महज संयोग नहीं है कि इस प्रश्न को बीसवीं सदी के आरंभ में एक ऐसे आदमी ने पूछा था, जो एक पिछड़े हुए गरीब देश का निवासी था; पश्चिम के आधुनिक समाज का नहीं, बल्कि एक ऐसे समाज का सदस्य था, जिसे समाजशास्त्री हलकी हिकारत में 'परंपराग्रस्त, धर्मग्रस्त' समाज कहते हैं। गांधीजी ने 'हिंद

स्वराज' में आधुनिक सभ्यता के विकल्प में एक ऐसे समाज की परिकल्पना की थी, जहां स्वराज और स्वधर्म के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं रहता। वहां मनुष्य के 'स्व' में उसकी समस्त निष्ठाएं और विश्वास और कर्मकांड शामिल हैं—अतः स्वराज वह तंत्र है, जिसमें मनुष्य सिर्फ राजनीतिक या आर्थिक प्राणी न रहकर एक समग्र मनुष्य की हैसियत से भाग लेता है। स्वतंत्रता के बाद हमने जिस धर्मनिरपेक्ष समाज का निर्माण किया, उसमें इस समग्र मनुष्य के लिए कोई स्थान नहीं। एक भारतीय का सबसे मूल्यवान, स्मृतिसंपन्न और समृद्ध अंश अंधेरे में चला गया। ऊपरी जिंदगी में हम भारतीय हैं, भीतर के 'अंडरग्राउंड' अंधेरे में हम हिंदू, मुसलमान और सिख हैं; अंधेरे में कोई विश्वास पनपता नहीं, सड़ता है। इसीलिए जब कभी वह बाहर आता है, तो अपने सहज आत्मीय रूप में नहीं, बल्कि एक विकृत और दमित भावना के रूप में। समय-समय पर होने वाले सांप्रदायिक दंगे हमें उस अंधेरे की झलक दिखाते हैं, जहां एक सेक्यूलर समाज ने धर्म को फेंक दिया है। क्या आज का भारतीय—जिसमें केवल हिंदू, मुसलमान, सिख ही नहीं, वे लाखों आदिवासी शामिल हैं, जिनके अपने निजी धार्मिक विश्वास हैं—एक पीड़ायुक्त विभाजित मनःस्थिति में नहीं जीता—जहां पश्चिम की आधुनिकता में ढली शासन-सत्ता कदम-कदम पर उन्हें एक ऐसे परिवेश में जीने के लिए विवश करती है, जिसका उनके धार्मिक भावबोध की मर्यादाओं से कोई संबंध नहीं?

जीसस ने ईश्वर और सीजर के बीच जो भेद किया था, वैसा विभाजन भारतीय मानस में कभी मौजूद नहीं रहा। इसीलिए राजनीति तो दूर, हमारे देश का भूगोल भी पौराणिक स्मृतियों में स्पंदित होता है; गंगा महज एक नदी नहीं, जैसे हिमालय सिर्फ एक पहाड़ नहीं, वाराणसी और वृंदावन महज शहर नहीं हैं; मनुष्य का अतीत संग्रहालयों में बंद नहीं है, न ही उसके देवता यूनानी देवताओं की तरह किसी पौराणिक काल के स्मृति-चिह्न हैं; मिथक और यथार्थ, पौराणिक स्मृति और वर्तमान जीवन, देवता और मनुष्य आज भी एक साथ रहते हैं; सैकड़ों विश्वासों, आस्थाओं, स्मृतियों और संस्कारों का यह संगम केवल एक ऐसी संस्कृति में संभव हो सकता था—जिसमें संपूर्ण मनुष्य की परिकल्पना निहित रहती है।

किंतु, हर परिकल्पना एक कलाकृति की तरह आधा स्वप्न है, आधा यथार्थ; स्वप्न में संपूर्ण मनुष्य है, प्रकृति का पवित्र परिवेश, सृष्टि और मनुष्य को जोड़ने वाले धार्मिक संस्कार—जो अहिंसा और आस्था से जन्म लेते हैं। यथार्थ में हजारों आदिवासी हैं, अपने परिवेश से उन्मूलित, उजड़ते हुए जंगल हैं, नष्ट होती हुई प्रकृति है, हरिजनों की जलती झोंपड़ियां हैं, जो अपने को अपने ही समाज में अनाथ पाते हैं। हमारे देश में ऐसे लाखों धर्मावलंबी हैं, जिन्हें एक समय अपने जीवन की अर्थवत्ता नानक और कबीर, विवेकानंद, अरविंद, गांधी और परमहंस में मिलती थी, आज वही लोग उनके पीछे जाते हैं, जिनका संबंध न आस्था से है, न धार्मिक बोध से। धर्म का पवित्र स्रोत सूखने के कारण लोग अपनी आध्यात्मिक प्यास बुझाने के लिए सिर्फ गंदले नाले के पास ही जा सकते हैं। हम यथार्थ में नहीं, स्वप्न की एक ऐसी छाया में रहते हैं, जो हमारे भीतर है, किंतु जिसका बाहरी तंत्र—चाहे वह राजनीतिक तंत्र हो, धार्मिक प्रतिष्ठान हों, आर्थिक व्यवस्था हो—उसमें कोई अभिव्यक्ति नहीं मिलती। यह अकारण नहीं है कि जिस संपूर्ण मनुष्य की कल्पना बीती शताब्दी के शुरू में गांधीजी ने की थी, उसे वही क्रांति यथार्थ में अनूदित कर सकती है, जो अपने में संपूर्ण हो। किंतु संपूर्ण क्रांति की आवाज भी उसी संस्कृति से उठ सकती थी, जिसकी स्मृति में कभी मनुष्य की समग्रता का बोध रहा हो। क्या हम एक ऐसे राज्य तंत्र का निर्माण कर सकेंगे, जहां एक भारतीय की पुरातन पद्धति और आदि-स्वप्न—जिसे व्यापक अर्थों में हमने धार्मिक बोध माना है—अपनी मांस-मज्जा में साकार हो सके? यदि आज भी हम अपने से यह प्रश्न पूछ सकते हैं तो संभव है कि कहीं-न-कहीं इसका उत्तर देने की आशा और सामर्थ्य हममें बची है। ❖

'संसार में सब ज्ञान का प्रकाश लाओ, प्रकाश, प्रकाश ले आओ, प्रत्येक के पास प्रकाश आवे; जब तक हम ईश्वर तक न पहुंच जाएं, काम खतम नहीं होगा। गरीब के लिए प्रकाश लाओ, धनी के लिए अधिक प्रकाश लाओ। क्योंकि उन्हें गरीब से अधिक आवश्यकता है। अनपढ़ के लिए प्रकाश लाओ, पढ़े के लिए और अधिक, क्योंकि हमारे काल की शिक्षा में भयंकर दंभ भरा है। उन एक के लिए प्रकाश लाओ, बाकी सब प्रभु पर छोड़ दो।'

—स्वामी विवेकानंद

जहां क्रिया है, वहां प्रतिक्रिया है। हमारे प्रत्येक व्यवहार के साथ प्रतिक्रिया जुड़ी है। कर्म एक क्रिया है, फल उसकी प्रतिक्रिया है। गाली देना एक क्रिया है, क्रोध करना या मार-पीट करना प्रतिक्रिया है। प्रतिक्रिया में समय और आकार का अंतर हो सकता है, किंतु यह संभव नहीं कि क्रिया की प्रतिक्रिया न हो। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सामाजिक परिवेश में जीता है। परिवेश में जब उत्तेजना होती है, तब उत्तेजना को जन्म देती है। शरीर में एक अनुक्रिया यंत्र (रिस्पोंस मेकेनिज्म) है। मांसपेशियां, ग्रंथियां एवं स्नायु संस्थान भी प्रतिक्रिया के कारक हैं। प्रतिक्रिया से आकृष्ट कर्म पुनर्जन्म के हेतु बनते हैं।

❑❑❑

क्रियावाद : एक विश्लेषण

साध्वी डॉ. गवेषणाश्री

आचारांग को आगम साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। उसका प्रारंभ आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद से होता है।[1] इनकी गहरी मीमांसा है। आत्मा का जितना महत्त्व है, उतना ही क्रिया का महत्त्व है। क्रिया न हो तो आत्मा आदि का अस्तित्व कहां टिकेगा? जैन दर्शन में प्रत्येक पदार्थ अथवा अस्तित्व मात्र के साथ क्रिया शब्द जुड़ा हुआ है। यह जैन पारिभाषिक शब्द है और व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह अनेक अर्थों का संवाहक है।

वृत्तिकार[2] ने परिस्पंदनात्मक और चेष्टा रूप प्रवृत्ति को क्रिया कहा है। चूर्णिकार[3] के अनुसार एजन, कंपन, गमन कर्म और क्रिया—ये सब एकार्थक हैं। प्राकृत, पाली और संस्कृत भाषा में अर्थ साम्य है। आगमकारों ने क्रिया शब्द को तीन प्रकार से व्याख्यापित किया है—अस्ति, कर्म और शुभ क्रिया।

इस विश्व की सर्वात्मना व्याख्या सत्ता पर आधारित है। सत्ता के मूल दो हैं—चेतन और जड़। दोनों विश्व के अनादि निधन मौलिक नाम हैं। दोनों परिवर्तन-धर्मा हैं। सतत क्रियाशील हैं। एक क्षण भी क्रियाशून्य नहीं रहते[4], कभी स्वतंत्र रूप से तो कभी पारस्परिक प्रभाव से। क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र अनवरत गतिशील रहता है।

क्रिया शब्द 'कृ' धातु से निष्पन्न है। जीव और जगत के सारे पहलू इससे अनुबंधित हैं। क्रिया ही कर्ता है। कर्ता और क्रिया का अविनाभावी संबंध है। महत्त्वपूर्ण विषय है—'क्रियावाद'। आश्चर्य है कि आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि विषयों पर विश्लेषणात्मक तथा समीक्षात्मक रूप में विपुल साहित्य उपलब्ध है, किंतु क्रियावाद आज तक अछूता ही रहा। इस पर संभवतः मनीषियों या विचारकों ने कोई विचार नहीं किया।

अध्यात्मवाद भारतीय दर्शनों का निचोड़ है। आत्मा के अस्तित्व के संबंध में प्रायः सभी दार्शनिक एकमत हैं। अस्तित्व द्रव्य पर्यायात्मक है। जैन दर्शन परिणामवादी है। वह प्रत्येक द्रव्य को—चाहे जीव हो या अजीव—परिणामी-नित्य मानता है। अस्तित्व की अपेक्षा से द्रव्य ध्रुव, नित्य और शाश्वत है, पर्याय की अपेक्षा से सतत परिणमन होता रहता है। द्रव्य अपने गुण और पर्याय का स्वामी है। द्रव्य का यही परिणमन-युक्त नित्यत्व स्वभाव 'परिणामी नित्य' सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध है।

आधुनिक विज्ञान भी इसका समर्थन करता है कि पदार्थ की मौलिकता (Fundamentals) कभी नष्ट नहीं होती, केवल रूपांतरित (Modified) होती है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से पदार्थ त्रिलक्षणी है। जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल समग्र वस्तु स्पर्शी परिणामवाद जो क्रियावाद की अभिव्यक्ति है।

प्रत्येक पर्याय समस्त अतीत-संस्कारों का परिवर्तित पुंज है तथा अनागत योग्यताओं का भंडार है। प्रवहमान

पर्याय परंपरा में जिस समय जैसी कारण-सामग्री मिल जाती है, उस समय उसका वैसा परिणमन उपादान और निमित्त के अनुसार होता जाता है।

क्रियावाद और कर्मवाद

जीव की क्रिया का जो हेतु है—वह कर्म है। पूरे ब्रह्मांड में कर्म वर्गणा के परमाणु परिव्याप्त हैं। वे पुद्गल परमाणु स्वयं कर्म नहीं, किंतु कर्म बनने की योग्यता रखते हैं। प्राणी के भीतर जब राग-द्वेषात्मक भाव पैदा होते हैं[5], तब आत्म-क्षेत्रावगाही कार्मण वर्गणा के पुद्गलं कर्म-रूप में रूपांतरित होकर आत्मा के साथ जुड़ जाते हैं।[6] जैन परंपरा में कर्म के दो प्रकार हैं—द्रव्य कर्म, भाव कर्म।

द्रव्य कर्म पुद्गल रूप है। राग-द्वेषात्मक परिणाम भाव कर्म है। भाव कर्म को क्रिया भी कहते हैं। कर्म क्रिया का उपजीवी है। क्रिया कर्म की जननी है। दोनों में कार्य-कारण संबंध है। प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य होता है। कार्य का नियामक हेतु कारण है, जो तर्कवाद से भी सिद्ध है। क्रिया न हो तो कर्म भी नहीं होगा। दोनों में अन्वय-व्यतिरेक है। हर क्रिया की प्रतिक्रिया है। प्रतिक्रिया का पर्याय कर्म है। बौद्ध-वैदिक आदि भी इसके समर्थक हैं।

जैन दर्शन में हर तत्त्व को समझने के लिए द्रव्य और भाव का भेद करके सुगम बना दिया। निक्षेप, नय, कर्म, क्रिया, द्रव्य-भाव आदि हर तरह से विश्लेषण किया गया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

क्रियावाद और पुनर्जन्म

कर्म और पुनर्जन्म को समझाने के लिए क्रियावाद का विकास हुआ है। कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छिन्न संबंध है। प्राणी जो-कुछ करता है, सभी प्रवृत्तियों का मूलाधार पूर्वकृत कर्म है। पूर्वकृत कर्म हजारों-हजारों जन्मों के पूर्ववर्ती संस्कारों की धारावाहिकता है। कर्म अतीत और अनागत का सेतुबंध है।

प्रत्यक्ष ज्ञानियों ने अनुभूत सत्य के रूप में निरूपित किया कि जन्म के पहले भी जीवन होता है और मृत्यु के बाद भी जीवन की धारा अविच्छिन्न है। वर्तमान मध्यवर्ती विराम है। जिसका मध्य है, उसका पूर्वापर भाव भी निश्चित है। वर्तमान जीवन जन्म परंपरा की मध्यवर्ती कड़ी है। यही पुनर्जन्म है।

ड्राइडन का कथन है—इस अमर आत्मा का वध करने का सामर्थ्य मृत्यु में नहीं है। जब वर्तमान शरीर का नाश होने लगता है तो आत्मा अपनी अक्षुण्ण शक्ति से नया आवास खोज निकालती है और दूसरे शरीर को जीवन तथा प्रकाश से भर देती है।

कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद एक रहस्यमय उलझन है। इस पर वैचारिक मतैक्य स्थापित नहीं हो सका। इसलिए ऐसे कोई ठोस युक्तिसंगत और अनुभूतिगम्य आधार की अपेक्षा है, जिस पर सबकी सहमति की मुहर अंकित हो सके। क्रियावाद उसकी संपूर्ति है तथा अनेक अनुत्तरित प्रश्नों का समाधान है।

क्रिया और प्रतिक्रिया

जहां क्रिया है, वहां प्रतिक्रिया है। हमारे प्रत्येक व्यवहार के साथ प्रतिक्रिया जुड़ी है। कर्म एक क्रिया है, फल उसकी प्रतिक्रिया है। गाली देना एक क्रिया है, क्रोध करना या मार-पीट करना प्रतिक्रिया है। प्रतिक्रिया में समय और आकार का अंतर हो सकता है, किंतु यह संभव नहीं कि क्रिया की प्रतिक्रिया न हो। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सामाजिक परिवेश में जीता है। परिवेश में जब उत्तेजना होती है, तब उत्तेजना को जन्म देती है। शरीर में एक अनुक्रिया यंत्र (रिस्पोंस मेकेनिज्म) है। मांसपेशियां, ग्रंथियां एवं स्नायु संस्थान भी प्रतिक्रिया के कारक हैं। प्रतिक्रिया से आकृष्ट कर्म पुनर्जन्म के हेतु बनते हैं।

क्रिया अच्छी और बुरी, दोनों प्रकार की होती है। उसका कारण मन ही नहीं, कोई दूसरा तत्त्व भी है। भारतीय चिंतन में मन के नियंत्रण की चर्चा है। गीता में मन को वायु से अधिक चंचल माना है—

चंचलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्।। गी. 6/34

जैन दृष्टि से मन ही केवल जिम्मेदार नहीं, शरीर योग से भी प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे सिद्ध है कि मन से आगे और कोई शक्ति है, जो मन, वाणी और शरीर तीनों का संचालन करती है।

यह तथ्य इसलिए यथार्थ है कि प्राणी जगत का बहुत बड़ा भाग ऐसा है, जिसके पास मन नहीं है। फिर भी क्रिया हो रही है। कर्मबंधन का स्रोत प्रवाहित है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने 'चित्त और मन' नामक अपनी पुस्तक में 'स्थानांग सूत्र' का उद्धरण दिया है। वनस्पति के जीव, जो सदा सोए रहते हैं—मन और वाणी का माध्यम उनके पास नहीं है, फिर भी अट्ठारह पापों से होने वाला कर्मबंध उनके हो रहा है। कारण, उन जीवों के पास अध्यवसाय है। अविरति का प्रवाह निरंतर चालू है, उससे कोई भी जीव

बचा हुआ नहीं है। 'आनुवंशिकी' के अनुसार एक पत्ता भी कहीं टूटता है तो सारे प्रकंपन हो जाते हैं। आधुनिक विज्ञान की धारणा में एक तितली स्विट्जरलैंड में पैर हिलाती है तो कहीं भी वर्षा हो सकती है—इतना संबंध जुड़ा है। अविरति का सिद्धांत भी ऐसा ही है। असंज्ञी जीव उस प्रवाह में संभागी है। इसलिए कर्मबंधन हो रहा है।

हमारे अस्तित्व के केंद्र में चैतन्य है। चैतन्य की अर्हता सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी में विद्यमान है। चैतन्य के चारों और कषाय के वलय रूप कार्मण शरीर है। कषाय के असंख्य स्पंदन निरंतर कषाय के वर्तुल को तोड़कर बाहर आ रहे हैं। ये स्पंदन जब सूक्ष्म शरीर से होकर आते हैं, तब उनका स्वतंत्र तंत्र बनता है। जिसे अध्यवसाय तंत्र कहते हैं। चेतना की सूक्ष्म परिणति अध्यवसाय है। कर्म-संस्कार, आवेग-आवेश, वासनाएं—सारी वृत्तियों का उद्गम अध्यवसाय है। इसे समझने के लिए मूर्धन्य दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने प्रेक्षा साहित्य में इनकी वैज्ञानिक व्याख्या की है, जो नीचे दिए चरणों से सहज बुद्धिगम्य है।

●

द्रव्य आत्मा
↓
कर्म शरीर
↓
अध्यवसाय तंत्र
↓
लेश्या तंत्र
↓
भाव तंत्र
↓
ग्रंथि तंत्र
↓
नाड़ी तंत्र
↓
विचार तंत्र
↓
क्रिया तंत्र

यह कषाय से क्रिया तक की यात्रा है। विचार तंत्र, भाव तंत्र और अध्यवसाय तंत्र—तीनों संबंधित हैं। अध्यवसाय से भाव और भाव से विचार का जन्म होता है। क्रिया स्थूल है, विचार सूक्ष्म है। भाव उससे भी सूक्ष्म है। अध्यवसाय प्रशस्त-अप्रशस्त रूप होते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में अध्यवसाय को 'अदसमन' कहा है। मन केवल उन प्राणियों के होता है, जिनके सुषुम्ना और मस्तिष्क है, किंतु अध्यवसाय प्राणी मात्र के होते हैं। अध्यवसाय तरंग रूप है। तरंग सघन होकर भाव का रूप ले लेती है। जीवन की समूची प्रणाली भावतंत्र से संचालित है।

क्रिया और लेश्या

भाव लेश्या से पैदा होते हैं। भीतरी भावों को अंतःस्रावी संस्थान के माध्यम से क्रियातंत्र द्वारा अभिव्यक्त करती है—लेश्या। लेश्या के मुख्य द्वार से पुद्गल भीतर से बाहर आते हैं। वे अंतःस्रावी ग्रंथियों को उत्तेजित करते हैं, जिससे बाहरी व्यक्तित्व प्रभावित होता है।

कषाय की तरंगें और कषाय शुद्धि से निष्पन्न चैतन्य की तरंगों को भाव के सांचे में ढालना, भाव रूप में निर्माण कर क्रिया तक पहुंचाना लेश्या का कार्य है। लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। कषायों के उदय से अनुरंजित मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।

हमारे व्यक्तित्व के तीन पहलू हैं—भाव, विचार और व्यवहार। व्यवहार कायिक प्रवृत्ति है। विचार मानसिक। लेश्या स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के बीच का संपर्क सूत्र है। व्यक्तित्व का रूपांतरण, शोधन और परिष्कार इसी से संभव है।

क्रियावाद और मनोविज्ञान

व्यक्तित्व के रूपांतरण में सूक्ष्म शरीर का हाथ होता है, मनोविज्ञान में जिसे 'गहन मनोविज्ञान' के नाम से जाना जाता है। इस संदर्भ में फ्रायड की धारणा महत्त्वपूर्ण है। फ्रायड ने चैतन्य अनुभवों के नीचे अनेक स्तरों को स्वीकार किया है। एक स्तर है—अचेतन मन। उसे महत्त्व दिया, किंतु वह वहीं पर ठहर जाता है। इसलिए व्यक्तित्व की पूरी व्याख्या नहीं कर सका। अचेतन मन का स्तर अत्यंत शक्तिशाली है। चेतन मन उससे अवदान प्राप्त कर काम चलाता है। जितनी घटनाएं होती हैं, जितने आचरण हैं—उन सबका स्रोत अचेतन मन है। जैन दर्शन के अनुसार सभी आचरणों का स्रोत तथा प्रेरक तत्त्व कर्म है। जो कर्म अस्तित्व में है, जब उनका विपाक होता है—तब नाना प्रकार की घटनाएं घटित होती हैं। सारा-का-सारा व्यक्तित्व उनके आधार पर चलता है। मनोविज्ञान में केवल दमित वासनाओं का उल्लेख है, किंतु कर्मशास्त्र में अच्छी-बुरी दोनों वृत्तियों का वर्णन है। कर्मशास्त्र में जिसे रसविपाक कहा जाता है। मनोविज्ञान में उसे दमित इच्छाओं का उभार कहा है।

कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान की परिभाषा में अनुभव और व्यवहार का प्रयोग न कर क्रिया (Activity) का प्रयोग किया है। क्रिया शारीरिक, मानसिक दोनों होती हैं, अतः क्रिया कहें या अनुभव अथवा व्यवहार—कोई अंतर नहीं। स्पष्टीकरण के लिए क्रिया का एक विभाजन इस तरह किया जा सकता है—

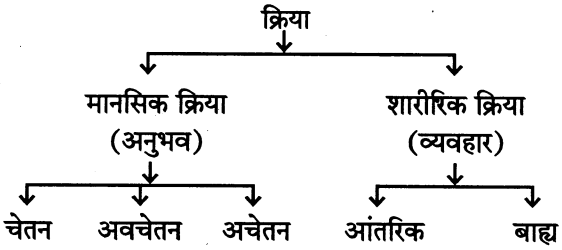

अतः स्पष्ट है कि मनोविज्ञान जीव की विभिन्न क्रियाओं अर्थात् अनुभव और व्यवहार का अध्ययन समायोजनशीलता की दृष्टि से करता है।

क्रियावाद और पुण्य-पाप

मन-वचन-काया की परिस्पंदनात्मक क्रिया प्रतिक्षण होती रहती है। कषाय के साथ संपृक्त होकर योग कर्मबंधन के निमित्त बनते हैं। पुण्य-पाप के बंधन में केवल मनोवृत्ति को ही कारण मानना एकांगी दृष्टिकोण है। जैन दर्शन सापेक्षवादी दर्शन है। कषाय और योग ही कर्मबंध के मूल कारण हैं, जिनमें बंधनकारक जीव के संपूर्ण मनोविकारों का समावेश हो जाता है। बंधन न शरीर में है, न इंद्रियों में। बल्कि इनके निमित्त से राग-द्वेषात्मक भाव पैदा होते हैं, वे ही बंधन के कारण हैं। अशुभ मन से पाप का और शुभ मन से पुण्य का बंध होता है। मनोवृत्ति और क्रिया में भेद नहीं है। मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ—यह संभव नहीं। मनोवृत्ति के अनुरूप ही क्रिया होगी। शुभ-अशुभ आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह है।

तत्त्वार्थ सूत्र में शुभ-अशुभ योगाश्रव को पुण्य-पाप कहा है। द्रव्य-संग्रह में[7]—अशुभ परिणामों से युक्त जीव पाप और शुभ परिणामों से युक्त जीव पुण्य कहा है।

क्रिया दो प्रकार की है—ईर्यापथिक और सांपरायिक। सांपरायिक क्रियाएं वे हैं, जो राग-द्वेष मूलक मानसिक संकल्पों एवं प्रमाद सहित होती हैं। इसके विपरीत राग-द्वेष रहित संपादित होने वाली क्रियाएं ईर्यापथिक हैं। ईर्यापथिक से पुण्य का बंधन होता है। सांपरायिक से पाप का। गीता में कुशल-अकुशल कर्मों का उल्लेख है। इनकी तुलना क्रमशः ईर्यापथिक और सांपरायिक से की जा सकती है। किंतु, पुण्य-पाप दोनों विजातीय हैं। साधना के क्षेत्र में उपादेय नहीं, आत्मा की परतंत्रता के हेतु हैं।[8] एक सोने की बेड़ी है, एक लोहे की। दोनों हेय हैं।

आचार्य भिक्षु ने कहा—'पुण्य की कामना से पाप का बंध होता है। पुण्य से भोग की उपलब्धि होती है। भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है।'[9] आत्मविशुद्धता का संबंध भीतरी पक्षों से जुड़ा है। अतः शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम, शुभ लेश्या की अपेक्षा है। आत्मा की विशुद्धता से कर्म क्षीण होते हैं। आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य है—अशुभ से शुभ की ओर। शुभ से निरावरण अवस्था तक पहुंचना ही जीवन का नैतिक साध्य है।

अक्रिया और कर्ममुक्ति

सूत्रकृतांग में प्रमाद को कर्म, अप्रमाद को अकर्म कहा है (पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं)।[10] कारण अप्रमाद संवर है। संवर में कर्म के आगमन का निरोध हो जाता है। कषाय का वलय टूट जाता है। वहां क्रिया करते हुए भी कर्मबंध से लिप्त नहीं होते। कर्मों से मुक्त होने का सबसे बड़ा सूत्र है—संवर व निर्जरा। शरीर की प्रवृत्ति का निरोध, प्रकंपनों का निरोध, बाहर के परमाणुओं को भीतर आने से रोकना संवर है।

जीव की वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि जिस प्रकार के गुणसूत्र होते हैं, उसी प्रकार जीव की संरचना हो जाती है, पर कर्मशास्त्रीय व्याख्या बहुत गहरी है। उसके अनुसार चेतना की भावात्मक अवस्था में राग-द्वेष प्रबल हो गए, चेतना गहरी मूर्च्छा में चली गई। चेतना के अणु-अणु पर ज्ञान के जो स्रोत थे, उन पर अपना आवरण डाल दिया, उससे भावकर्म का संवादी द्रव्य कर्म बना। द्रव्य कर्म का संवादी स्थूल शरीर, स्थूल शरीर का सूक्ष्म शरीर और भाव शरीर (कर्म शरीर)—इन तीनों की परस्पर संवादिता है। एक के अनुसार ही दूसरा-तीसरा होगा। सूक्ष्म जगत में जिस प्रकार के हमारे चित्त का निर्माण होता है, वैसा ही पौद्गलिक कर्म होता है। आत्मा कभी पुद्गल को आकर्षित नहीं करती। क्योंकि आत्मा के पास पुद्गल को आकर्षित करने की कोई शक्ति नहीं, किंतु एक जिससे आकर्षित किया जाता है, वह है—भावकर्म या आश्रव। आश्रव का प्रतिपक्षी संवर है। द्रव्य और भाव से संवर के दो प्रकार हैं—संसार की निमित्तभूत क्रिया की निवृत्ति भाव संवर है और उसका निरोध होने पर कर्म पुद्गलों के ग्रहण का

शेष पृष्ठ 34 पर

अनुभूति

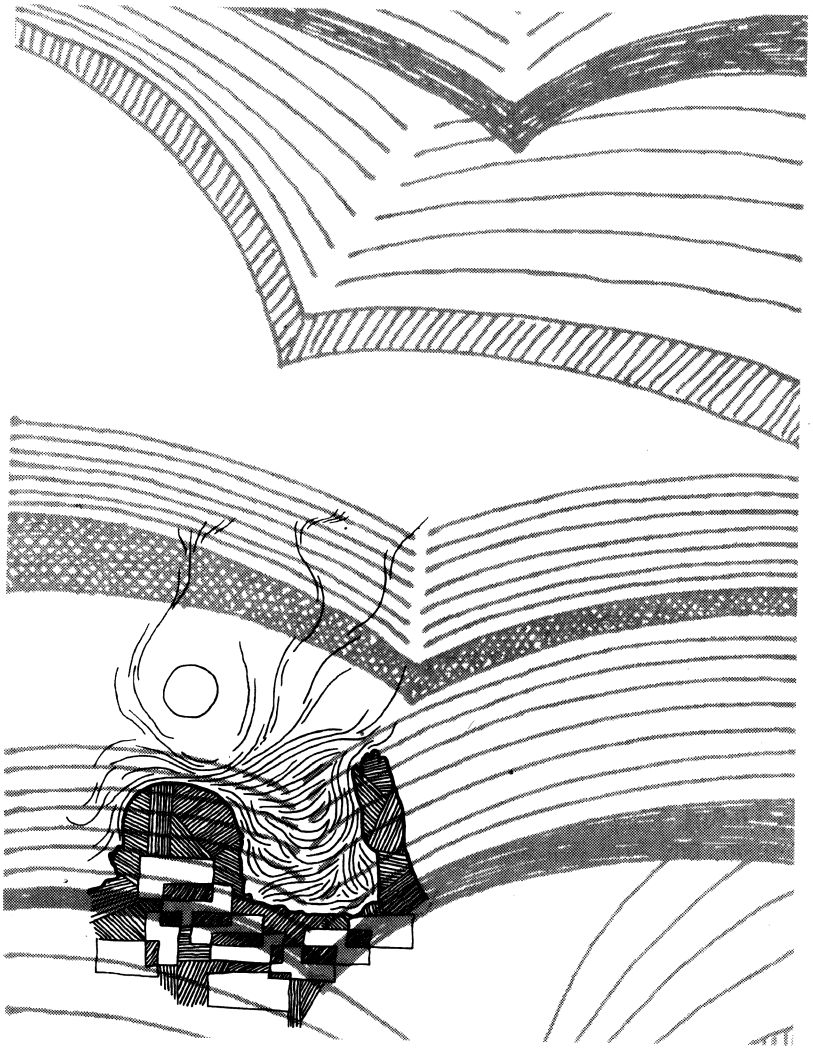

दुःख सब को मांजता है
और—
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किंतु
जिनको मांजता है
उन्हें वह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।

—अज्ञेय

सामान्यतः गुरु भी जब तक परिपूर्ण नहीं हो जाते, तब तक उन्हें भी किसी ऐसे नियंता की अपेक्षा रहती है जो अंतिम कोटि के सामर्थ्यशील और आप्त-पुरुष हों, जिनकी वाणी के आधार पर धर्मगुरु सफलतापूर्वक अध्यात्म का आलोक लोक-चेतना तक पहुंचा सकें। ऐसे केंद्रीय व्यक्तित्व ज्ञान के महास्रोत अर्हत् ही होते हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में जन-जीवन को दिव्यता प्रदान करने वाले वे ही धर्म-देव होते हैं। वे सर्वोत्तम, अनन्य और अनुपमेय होते हैं। सम्राट चक्रवर्ती, ऋषि-महर्षि तथा देव-देवेंद्रों के भी वे श्रद्धेय एवं पूज्य होते हैं, अतः वे देव ही नहीं देवाधिदेव कहलाते हैं। यह परिपूर्ण देव तत्त्व अरहंत/तीर्थंकर भगवान में ही संपूर्णतः प्रकट होता है। धर्म-प्रेरक अन्य देव उन्हीं की कम-अधिक छाया हैं।

❑❑❑

देव मेरे दिव्य अर्हत् श्रेष्ठ सारे लोक में

साध्वी कनकश्री

मनुष्य सर्वाधिक विकसित चेतना का स्वामी है। विकसित मस्तिष्क और विकसित नाड़ीतंत्र उसे प्राप्त है, अतः विकास की अनंत संभावनाएं हैं—मनुष्य के जीवन में। वह निरंतर विकास की दिशा में बढ़ रहा है। असत् से सत्, तमस से ज्योतिपथ, मृत्यु से अमरत्व एवं अपूर्णता से पूर्णता को प्राप्त करना उसका ध्येय है। अपूर्णता से पूर्णता की यात्रा संपन्न करने के लिए कोई आलंबन चाहिए, सहारा चाहिए। जैसे बच्चे को मां की गोद का और पिता की अंगुली का सहारा चाहिए, वैसे ही ज्ञानार्जन के लिए शिक्षक का सहारा चाहिए, गृह संचालन और जीवन निर्वाह के लिए व्यवसाय-प्रतिष्ठान आदि का सहारा चाहिए। इसी तरह पूर्णता की प्राप्ति हेतु किसी पूर्णपुरुष का या विशिष्ट शक्ति का सहारा चाहिए।

इस संसार में कोई भी बेसहारा नहीं है। प्रत्येक अस्तित्व एक-दूसरे के सहारे पर टिका हुआ है। पृथ्वी का सहारा सूर्य है। सूर्य का सहारा ब्रह्मांड का केंद्रीय सूर्य है। असंख्य ब्रह्मांड भी अपनी धुरी पर किसी पराशक्ति के सहारे टिके हुए हैं, ऐसा वैज्ञानिक मानते हैं। उनका कहना है—यह पृथ्वी सूर्य का सहारा लेकर सात मील प्रति सेकंड की गति से एक घंटे में 25,200 मील आगे बढ़ जाती है। फिर भी वह अपनी धुरी पर स्थिर रहती है। इसी प्रकार जगत में प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी के सहारे गतिशील भी है और स्थिर भी है। प्रत्येक परमाणु घूम रहा है, एटम घूम रहा है, पर अपने केंद्र पर स्थिर भी है, अपने गुरुत्वाकर्षण से बंधा हुआ भी है। एक-दूसरे का अस्तित्व आपस में जुड़ा हुआ है।

परस्परोपग्रहो जीवानाम्—सब को एक-दूसरे का आलंबन चाहिए। आधार और सहारा चाहिए। पिता पुत्र को सहारा देता है और पुत्र पिता को। वैसे ही पति-पत्नी, भाई-बहन, मां-बेटी—ये सब एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं रह सकते। सहयोग का आदान-प्रदान ही संबंधों को सुदृढ़ और सरस बनाए रखता है। निरपेक्ष होकर कोई जी नहीं सकता। लेकिन ये सब सहारे लौकिक हैं, व्यावहारिक हैं, तात्कालिक हैं। आज हैं, कल नहीं। इनसे मिलने वाला सुख-समाधान भी स्थाई नहीं होता।

नदी अपार-अथाह सागर को आधार मानकर उसमें विलीन हो जाती है। समुद्र में समा जाती है। सागर बन जाती है। वाष्प बनकर ऊपर उठती है। मेघ बनकर हिमालय पर पहुंचती है। बर्फ या वर्षा बनकर नीचे गिरती है, फिर अपने आधार की ओर भागती है। नदी बनकर फिर सागर में समाहित, समर्पित हो जाती है। यही समर्पण भाव उसे स्थायित्व प्रदान करता है। उसकी अस्मिता को बचाता है। यही है—बिंदु से सिंधु बनने की प्रक्रिया। बूंद समानी समुद्र में—आधार के प्रति यह समर्पण भाव ही नदी का जीवन है। यही उसकी संपूर्णता है। लाखों वर्ष बीत गए होंगे। नदी अब भी बहती है। अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व की

कहानी कहती है। उसकी गति कभी थमी नहीं। उसके आकार-प्रकार और प्रवाह में कोई कमी नहीं। क्योंकि उसने विराट को, संपूर्ण को अपना आधार बना लिया।

जैसे सब को आधार की, सहारे की अपेक्षा रहती है—वैसे ही मनुष्य को भी अपने से बड़े, अधिक समर्थ व संपूर्ण का सहारा अपेक्षित है। पूर्ण का सहारा अपूर्ण को भी पूर्ण बना देता है।

श्रद्धा है सिद्धियों का द्वार

धर्म प्रज्ञप्ति का आधारभूत तत्त्व है—श्रद्धा। श्रद्धा वह सोपान है, जिस पर चढ़कर व्यक्ति चैतन्य-विकास की अमाप ऊंचाई का स्पर्श कर सकता है। जो कार्य ज्ञान या भाग्य के बल पर नहीं किया जा सकता, वह श्रद्धा के बल पर सहज-सिद्ध हो सकता है। प्रत्यक्ष से भी बढ़कर जो विश्वास है, वह श्रद्धा है। जहां श्रद्धा है, वहीं साधना है, वहीं सिद्धि है। श्रद्धा से ही साध्य, साधन और साधक में अद्वैत स्थापित हो सकता है। शिष्य की गुरु पर श्रद्धा न हो तो उसकी शिक्षा व साधना व्यर्थ है। भक्त का भगवान पर विश्वास न हो तो ईश्वरीय शक्तियों का उद्घाटन संभव नहीं होता। रामकृष्ण परमहंस का कहना है—बुद्धि पंगु है, श्रद्धा सर्वसमर्थ है। बुद्धि बहुत अधिक नहीं चलती, वह थककर कहीं-न-कहीं ठहर जाती है। वहां श्रद्धा अकल्पित कार्य सिद्ध कर दिखाती है।

श्रद्धा अमूर्त तत्त्व है। उसकी अभिव्यक्ति स्थूल होती है, अतः वह मूर्त बन जाती है। उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है—भक्ति। प्रेम की पराकाष्ठा है—श्रद्धा। श्रद्धा की अभिव्यक्ति है—भक्ति। प्रश्न होता है—श्रद्धा-भक्ति किस की करें?

विश्व के सभी धर्मों में किसी विशिष्ट शक्ति को श्रद्धा का केंद्रबिंदु माना गया है। हिंदू धर्म में ब्रह्मा, विष्णु और महेश को क्रमशः सृष्टि की सर्जक, पालक और संहारक शक्ति के रूप में विश्व का नियामक माना गया है। अतः हिंदू परंपरा में यह शक्तित्रयी ही श्रद्धा-आस्था का केंद्र है। बौद्ध धर्म में श्रद्धा के केंद्र हैं—अर्हत् या बुद्ध। जैन धर्म में श्रद्धा या साधना के केंद्र हैं—देव, गुरु और धर्म।

देव मेरे दिव्य अर्हत् श्रेष्ठ सारे लोक में

जैन धर्म मोक्ष धर्म है। प्रत्येक मुमुक्षु का प्रथम और अंतिम ध्येय होता है—मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है, बंधन-मुक्ति या दुख-मुक्ति। इसकी साधना या प्रक्रिया का नाम है—धर्म। धर्म के प्रवक्ता या प्रशिक्षक गुरु कहलाते हैं तथा धर्म-शिक्षा के आदिस्रोतं आदर्श पुरुष देव कहलाते हैं।

सामान्यतः देवगति या देवयोनि में उत्पन्न, दिव्य शक्तिसंपन्न, चामत्कारिक ऋद्धि-सिद्धि से युक्त आत्माओं को देवरूप में जाना-पहचाना जाता है। किंतु, जैन धर्म में देव शब्द को अलग ही दृष्टि से परिभाषित किया गया है। देव अर्थात् भगवान।

प्रत्येक अस्तित्ववादी या आस्तिक दर्शन ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करता है। जैन दर्शन यद्यपि एकेश्वरवादी नहीं है। वह सृष्टि के कर्ता या नियंता के रूप में भी किसी ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार नहीं करता। फिर भी वह आत्मा की तरह परमात्मा के अस्तित्व को अवश्य स्वीकार करता है। परमात्मा यानी जीवात्मा की पूर्ण विशुद्ध अवस्था। कोई भी जीवात्मा सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र की साधना-आराधना द्वारा परमात्म-पद का वरण कर सकती है।

परमात्मा की दो भूमिकाएं हैं—अर्हत् परमात्मा और सिद्ध परमात्मा। सिद्ध परमात्मा—संपूर्णतः कर्ममुक्त, देहातीत और ज्योतिर्मय आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

अर्हत् परमात्मा आत्म-स्वरूप को उपलब्ध, राग-द्वेष-मुक्त, किंतु आंशिक कर्म (भवोपग्राही)-युक्त एवं देहधारी होते हैं। वे चरमशरीरी होते हैं। इसी जीवन में वे पूर्णकाम होकर संपूर्ण कर्मों को क्षीण कर मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। जैन परंपरा में ये अर्हत् भगवान ही धर्मदेव के रूप में आराध्य एवं उपास्य होते हैं। इनकी आंतरिक क्षमताएं, अर्हताएं पूर्णतः जाग्रत होती हैं। इसलिए ये अरहंत या अर्हत् कहलाते हैं। अर्हत् धर्मचक्र के प्रवर्तक, धर्म संघ के संस्थापक एवं महान प्रवचनकार होते हैं—इसलिए तीर्थंकर कहलाते हैं। वे सर्वज्ञ होते हैं, वीतराग होते हैं, अतः देवों, देवेंद्रों द्वारा पूजित होते हैं—इसीलिए वे देवाधिदेव कहलाते हैं। उन्हें मोहकर्म के विलय से वीतरागता एवं ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय युगल के क्षय से सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता उपलब्ध होती है। इस संपूर्ण भावना का संवाहक शब्द है—केवली/केवलज्ञानी। केवलज्ञानी का एक अर्थ है—सर्वज्ञ तथा दूसरा अर्थ है—मात्रज्ञानी, विशुद्धज्ञानी।

राग-द्वेषात्मक प्रतिक्रिया से सर्वथा मुक्त ज्ञान, मात्र ज्ञाता-द्रष्टा भाव।

कितना रहस्यगर्भित है यह पद्य—

केवल निज स्वरूप को, अखंड वर्ते ज्ञान।
कहिए केवल ज्ञान ते, देह छतां निर्वाण।।

अर्हतों की अर्हता को समग्रता से व्याख्यायित करते हुए गुरुदेव श्री तुलसी ने लिखा है—

सहज निज आलोक से भाषित, स्वयं संबुद्ध हैं,
धर्म तीर्थंकर शुभंकर वीतराग विशुद्ध हैं।
गति, प्रतिष्ठा, त्राणदाता आवरण से मुक्त हैं,
देव अर्हन् दिव्य-योगज अतिशयों से युक्त हैं।।

मोक्ष-प्राप्ति का अनन्य उपाय है—धर्म। धर्म की प्रतिष्ठा तथा धार्मिक चेतना के जागरण हेतु धर्म का ज्ञाता, अधिकृत प्रवक्ता, मार्गदर्शक तथा साधना के क्षेत्र में आने वाली बाधाओं का निराकरण करने वाला सुयोग्य प्रशिक्षक चाहिए। इस गुरुतर दायित्व के संवाहक होते हैं—धर्मगुरु, धर्माचार्य।

सामान्यतः गुरु भी जब तक परिपूर्ण नहीं हो जाते, तब तक उन्हें भी किसी ऐसे नियंता की अपेक्षा रहती है जो अंतिम कोटि के सामर्थ्यशील और आप्त-पुरुष हों, जिनकी वाणी के आधार पर धर्मगुरु सफलतापूर्वक अध्यात्म का आलोक लोक-चेतना तक पहुंचा सकें। ऐसे केंद्रीय व्यक्तित्व ज्ञान के महास्रोत अर्हत् ही होते हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में जन-जीवन को दिव्यता प्रदान करने वाले वे ही धर्म-देव होते हैं। वे सर्वोत्तम, अनन्य और अनुपमेय होते हैं। सम्राट चक्रवर्ती, ऋषि-महर्षि तथा देव-देवेंद्रों के भी वे श्रद्धेय एवं पूज्य होते हैं, अतः वे देव ही नहीं देवाधिदेव कहलाते हैं। यह परिपूर्ण देव तत्त्व अरहंत/तीर्थंकर भगवान में ही संपूर्णतः प्रकट होता है। धर्म-प्रेरक अन्य देव उन्हीं की कम-अधिक छाया हैं।

देवाधिदेव सर्वज्ञ होते हैं। सूर्य की भांति वे अपने प्रज्ञान से विश्व-चेतना को आलोकित करते हैं। अपनी सुधा-स्राविणी वाणी द्वारा चंद्रमा की भांति जीवन जगत को परम शांति प्रदान करते हैं। वे देवेंद्र और चक्रवर्ती से भी अधिक रूपवान और अनंत सामर्थ्यसंपन्न होते हैं। जिस अलौकिक ऐश्वर्य को पाने बड़े-बड़े व्यक्ति लालायित रहते हैं, उस अतुल संपदा को तृणवत् समझकर वे त्याग मार्ग को स्वीकार करते हैं। तप-संयम की उत्कृष्ट साधना कर आर्हत्य लक्ष्मी का वरण करते हैं। वे प्रखर पुण्यों के पुंज होते हैं। महा-सौभाग्यशाली होते हैं। त्याग के शिखर पर प्रतिष्ठित होते हैं।

जन-जन की आस्था के केंद्र और पथदर्शक वे ही हो सकते हैं, जो स्वयं निर्दोष होते हैं। तीर्थंकर प्रभु राग-द्वेष-मोह आदि दोषों से सर्वथा मुक्त होते हैं, वीतराग होते हैं।

आचार्य हेमचंद्र योगशास्त्र में लिखते हैं—

सर्वज्ञो जितरागादि दोषस्त्रैलोक्य पूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः।।

अतः वीतराग देव ही ध्यातव्य है, उपास्य है, शरण्य है। जाग्रत चेतना वाले प्राणियों के लिए वीतराग-शासन ही स्वीकार्य है।

ध्यातव्योऽमुपास्योऽयं, मयं शरणमिष्यताम्।
अस्यैव प्रतिपत्तव्यं शासनं चेतनास्ति चेत्।।

इसका हेतु प्रस्तुत करते हुए योगशास्त्रकार लिखते हैं—

ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादि रागाद्यंग कलंकिताः।
निग्रहानुग्रह परास्ते देवा स्युर्न मुक्तये।।

जिन देवों के परिपार्श्व में स्त्री, शस्त्र, अक्षसूत्र (जपमाला) आदि राग-द्वेषादि के प्रतीक चिह्न होते हैं, जो निग्रह-अनुग्रह परायण हैं, वे देव मुक्ति-प्रदाता नहीं हो सकते।

अर्हत् प्रभु की वीतरागी मुद्रा से प्रस्फुटित होने वाली मंगलमय रश्मियां विश्व-भर में व्याप्त होकर प्राणी-प्राणी के अंतःकरण में स्थित मूर्च्छा के दुर्भेद्य अंधकार को ध्वस्त कर देती हैं और चेतना के अनंत प्रकाश को उद्घाटित कर देती हैं। जैसे धातु और मिट्टी के कण सदा एकमेक होकर एक साथ रहते हैं, किंतु आग में तपकर वे अलग-अलग हो जाते हैं। अग्नितप्त धातु सिद्ध और शुद्ध हो जाती है, वैसे ही आत्मा भी अनादि काल से पुद्गल-प्रभावित है, कर्म परमाणुओं से आवृत है। फिर भी अंतरात्मा को आवृत करने वाले मोहाणु आर्हती वाणी के श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा क्षीण हो जाते हैं, चेतना का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। उनके अगाध और निर्मल ज्ञान की धारा में मुमुक्षुजनों के अंतःकरण का अज्ञान और कलुषता धुल जाते हैं। शंकाकांक्षा रूपी कांटों से रहित, सम्यक्त्व की सुषमा से मनहर उनका अबाध ज्ञान सन्मार्ग का बोध कराता है। उनकी परम पावनी सुधा स्राविणी देशना सुन अनंत-अनंत भव्यात्माएं संवेग-निर्वेद का आलंबन ले मोक्ष-मार्ग में प्रस्थित हो जाती हैं। साधना के शिखर पर पहुंचकर वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती हैं।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय—इन चार घनघाती कर्मों के आत्यंतिक क्षय से अर्हतों में क्रमशः अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतआनंद और अनंत-वीर्य—यह अनंत चतुष्टयी प्रकट होती है। इसके

अतिरिक्त अर्हत् अष्ट महाप्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय एवं पैंतीस वचनातिशय से युक्त होने के कारण असाधारण व्यक्तित्वसंपन्न होते हैं। वे अर्हता के शिखर होते हैं, शिखर को देखने वाला एक दिन शिखर का स्पर्श कर लेता है। जैन अनुयायियों के एकमात्र आदर्श होते हैं—जिनेंद्र भगवान। 'जय जिनेंद्र' यह अभिवादन-शब्द जैनों की अतिरिक्त पहचान कराता है। जैन साधकों, आराधकों व उपासकों के लिए 'जिन' ही साध्य, आराध्य एवं उपास्य होते हैं। उनकी सांस-सांस में यह विश्वास ध्वनित होता है—

जिन समरो, जिन चिंतवो, जिन ध्यावो चित शुद्ध।
ते ध्यान थी क्षण एक मां, लहो परम-पद शुद्ध।।

उनकी पूजा-भक्ति की महिमा अलौकिक है, अनुत्तर है। कहा है—

उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्न वल्लयः।
मनः प्रसन्नता मेति पूज्यमाने जिनेश्वरे।।

जिनेश्वर भगवान की पूजा से उपसर्ग क्षीण होते हैं, विघ्नों की बेल छिन्न-भिन्न होती है तथा मन प्रसन्न होता है। उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा, शरण, स्मरण और समर्पण के द्वारा अपने भीतर की अर्हता जागती है।

अध्यात्म योग की निष्पत्ति

अध्यात्म योग का प्रयोजन है—अणु को विराट के साथ, आत्मा को परमात्मा के साथ, कामना को भावना के साथ और स्वार्थ को परमार्थ के साथ जोड़ना। जैसे—बिजली, पंखा आदि जितने भी विद्युत संयंत्र हैं, उनके तार बिजली-घर से जुड़े होते हैं। यद्यपि तार निर्जीव हैं, फिर भी विद्युत-धारा तारों के माध्यम से ही प्रवाहित होती है। वही यंत्रों को सक्रिय करती है। जैसे नदियों-बांधों से जुड़कर ही नहरें खेतों/खलिहानों को सींचती हैं—वैसे ही भक्ति-भावना के तारों द्वारा परमात्मा के साथ संपर्क स्थापित होता है, तादात्म्य जुड़ता है। यह इष्ट के प्रति संपूर्ण समर्पण-भाव से ही संभव है। पतंग आकाशीय ऊंचाई का स्पर्श तभी कर सकता है, जब वह स्वयं को मालिक के हाथों सौंप देता है—जैसा चाहे, मालिक उसे उड़ाएं। बेल वृक्ष के सहारे ही ऊपर चढ़ती है। बांस का टुकड़ा स्वयं को खाली करता है, तभी उससे संगीत के स्वर प्रस्फुटित होते हैं। सीप स्वयं मुख खोलती है, तभी स्वाति नक्षत्र की बूंद उसमें गिरती है और मोती निपजता है। इसी भांति हम अर्हतों के प्रति, उनकी श्रेष्ठताओं के प्रति समर्पित होकर ही अर्हता को, परमात्म पद को प्राप्त कर सकते हैं।

आवश्यक है इष्ट के प्रति आस्था

हम अपने इष्ट या भगवान पर विश्वास क्यों करें? क्यों किसी अज्ञात विशिष्ट शक्ति का आलंबन लें? इसका समुचित उत्तर अग्रांकित सूत्रों में उपलब्ध होता है। हम अर्हतों को अपना आदर्श और आराध्य मानते हैं। उनके प्रति स्वयं को सर्वात्मना समर्पित करते हैं। क्यों—शक्ति जागरण के लिए, भक्ति और मुक्ति के लिए, दुष्प्रवृत्तियों से बचने के लिए, चित्तवृत्तियों के परिष्कार के लिए, गुणात्मक विकास के लिए, भावनात्मक आलंबन के लिए, मानसिक शांति और संतोष के लिए, चिंता और भय से मुक्त होने के लिए, सम्यक् दृष्टि और सम्यक् दिशा-बोध के लिए, लक्ष्यप्राप्ति के लिए, लौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष के लिए, आरोग्यबोधि और समाधि के लिए, आत्म-दर्शन और आत्मसिद्धि के लिए.... अरहंते.... सरणं.... पवज्जामि। ❖

यह बिलकुल सही है कि जीवन में बिना संयम के संतोष व सब्र प्राप्त नहीं हो सकते। सभी संतों ने बार-बार ऊंचे स्वर से गाया है कि मन व इंद्रियों को कभी तृप्ति नहीं होती। उनको संतुष्ट करने का हम जितना प्रयत्न करते हैं उतनी ही वासना बढ़ती जाती है। यह कोई दार्शनिक कल्पना का विषय नहीं है और न इसमें बहुत गहरी 'फिलोसफी' है, जिसे विद्वान ही समझ सकते हैं। हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन में पग-पग पर यही अनुभव मिलता है कि हम अपनी शारीरिक व स्थूल आवश्यकताओं को जितना बढ़ाते जाते हैं उतनी ही परेशानी व असंतोष बढ़ता जाता है।

—श्रीमन्नारायण

लेन-देन के नियम के आधार पर किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धन की घटती-बढ़ती के नियम पर मनुष्य का व्यवहार नहीं चलना चाहिए। उसका आधार न्याय का नियम है, इसलिए मनुष्य को समय देखकर नीति या अनीति—जिससे भी बने, अपना काम निकाल लेने का विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमुक प्रकार से आचरण करने पर, अंत में क्या फल होगा—इसे कोई भी सदा नहीं बतला सकता; परंतु अमुक काम न्यायसंगत है या न्यायविरुद्ध, यह तो हम प्रायः सदा जान सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि नीति-पथ पर चलने का फल अच्छा ही होना चाहिए। हां, वह फल क्या होगा, किस तरह मिलेगा—यह हम नहीं कह सकते।

❑❑❑

सचाई की जड़ में है सच्चा अर्थशास्त्र

महात्मा गांधी

मनुष्य कितनी ही भूलें करता है। पर, मनुष्य की पारस्परिक भावना, स्नेह, सहानुभूति के प्रभाव का विचार किए बिना, उन्हें एक प्रकार की मशीन मानकर, उनके व्यवहार के बढ़ाने से बढ़कर कोई दूसरी भूल नहीं दिखाई देती। ऐसी भूल हमारे लिए लज्जाजनक कही जा सकती है। जैसे दूसरी भूलों में ऊपर-ऊपर से देखने से कुछ सचाई का आभास दिखाई देता है, वैसे ही लौकिक नियमों के विषय में भी दिखाई देता है। लौकिक नियम बनाने वाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आकस्मिक वस्तु है और इस प्रकार की भावना मनुष्य की साधारण प्रकृति की गति में बाधा पहुंचाने वाली मानी जानी चाहिए, परंतु लोभ और आगे बढ़ने की इच्छा सदा बनी रहने वाली वृत्तियां हैं। इसलिए आकस्मिक वस्तु से दूर रखकर मनुष्य को पैसा बटोरने की मशीन मानते हुए केवल इसी बात पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार के श्रम और किस तरह के लेन-देन के रोजगार से आदमी अधिक-से-अधिक धन एकत्र कर सकता है। इस तरह के विचारों के आधार पर व्यवहार की नीति निश्चित कर लेने के बाद फिर चाहे जितनी पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से काम लेते हुए लोक-व्यवहार चलाया जाए।

—गांधी जयंती—
(2 अक्टूबर)
विशेष

यदि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का जोर लेन-देन के नियम जैसा ही होता तो ऊपर की दलील ठीक कही जा सकती थी। मनुष्य की भावना उसके अंदर का बल है और लेन-देन का कायदा एक सांसारिक नियम है। अर्थात् दोनों एक प्रकार, एक वर्ग के नहीं हैं।

लेन-देन के नियम के आधार पर किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धन की घटती-बढ़ती के नियम पर मनुष्य का व्यवहार नहीं चलना चाहिए। उसका आधार न्याय का नियम है, इसलिए मनुष्य को समय देखकर नीति या अनीति—जिससे भी बने, अपना काम निकाल लेने का विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमुक प्रकार से आचरण करने पर, अंत में क्या फल होगा—इसे कोई भी सदा नहीं बतला सकता; परंतु अमुक काम न्यायसंगत है या न्यायविरुद्ध, यह तो हम प्रायः सदा जान सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि नीति-पथ पर चलने का फल अच्छा ही होना चाहिए। हां, वह फल क्या होगा, किस तरह मिलेगा—यह हम नहीं कह सकते।

नीति-न्याय के नियम में पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का समावेश हो जाता है।

हर समय, हर आदमी के साथ परोपकार की दृष्टि रखने से परिणाम अच्छा ही होता है। यहां हम सहानुभूति को एक प्रकार की शक्ति मानकर ही उस पर विचार कर रहे हैं। स्नेह उत्तम वस्तु है, इसलिए उससे सदा काम लेना चाहिए—यह बिलकुल जुदा बात है और यहां हम उस पर

विचार नहीं कर रहे हैं। यहां तो हमें केवल यही दिखाना है कि अर्थशास्त्र के साधारण नियमों को, जिन्हें हम अभी देख चुके हैं, स्नेह-सहानुभूति रूपी शक्ति बरबाद कर देती है। यही नहीं, यह एक भिन्न प्रकार की शक्ति होने के कारण अर्थशास्त्र के दूसरे नियमों के साथ उसका मेल नहीं बैठता। वह तो उन नियमों को उठाकर अलग रख देने पर ही टिक सकती है। यदि मालिक कांटे की तौल का हिसाब रखे और बदला मिलने की आशा से ही स्नेह दिखाए तो संभव है कि उसे निराश होना पड़े। स्नेह स्नेह के लिए ही दिखाया जाना चाहिए, बदला तो बिना मांगे अपने-आप ही मिल जाता है। कहते हैं, जो खुद अपनी जान दे देता है वह तो उसे पा जाता है और जो उसे बचाता है, वह उसे खो देता है।

सिपाही का पेशा जनता की रक्षा करना है; धर्मोपदेशक का उसको शिक्षा देना है; चिकित्सक का उसे स्वस्थ रखना है; वकील का उसमें न्याय का प्रचार करना है और व्यापारी का उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है। इन सब लोगों का कर्तव्य समय आने पर अपने प्राण भी दे देना है। अर्थात्—पैर पीछे हटाने के बदले सिपाही को अपनी जगह पर खड़े-खड़े मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिए। प्लेग के समय भाग जाने के बदले चाहे खुद प्लेग का शिकार हो जाए तो भी चिकित्सक को वहां मौजूद रहकर रोगियों का इलाज करते रहना चाहिए।

सत्य की शिक्षा देने में लोग मार डालें तो भी मरते दम तक धर्मोपदेशक को झूठ के बदले सत्य ही की शिक्षा देते रहना चाहिए। न्याय के लिए मरना पड़े तब भी वकील को इसका यत्न करना चाहिए कि न्याय ही हो।

इस प्रकार उपर्युक्त पेशेवालों के लिए मरने का उपयुक्त समय कौन-सा है, यह प्रश्न व्यापारियों तथा दूसरे सब लोगों के लिए भी विचारणीय है। जो मनुष्य समय पर मरने को तैयार नहीं है, वह जीना किसे कहते हैं—यह नहीं जानता। हम देख चुके हैं कि व्यापारी का काम जनता के लिए आवश्यक सामान जुटाना है। जिस तरह धर्मोपदेशक का काम तनख्वाह लेना नहीं, बल्कि उपदेश देना है, उसी तरह व्यापारी का नफा कमाना नहीं, बल्कि माल जुटाना है। धर्मोपदेश देने वाले को रोटी और व्यापारी को नफा तो मिल ही जाता है, पर दोनों में से एक का भी काम तनख्वाह या नफे पर नजर रखना नहीं है। उन्हें तनख्वाह या मुनाफा मिले या न मिले—फिर भी अपना काम, अपना कर्तव्य करते रहना ही है। यदि यह विचार ठीक हो तो व्यापारी को ऊंचा दरजा मिलना चाहिए, क्योंकि उसका काम बढ़िया माल तैयार कराना और जिसमें जनता का लाभ हो—इस प्रकार उसे जुटाना, पहुंचाना है। इस काम में जो सैकड़ों या हजारों आदमी उसके मातहत हों, उनकी रक्षा और बीमार होने पर दवा-दारू करना भी उसका कर्तव्य है। यह करने के लिए धीरज, बहुत स्नेह-सहानुभूति और बहुत चतुराई चाहिए।

भिन्न-भिन्न काम करते हुए औरों की तरह, व्यापारी के लिए भी जान दे देने का अवसर आए, तो वह प्राण समर्पण कर दे। ऐसा व्यापारी, चाहे उस पर कैसा ही संकट आ पड़े, चाहे वह भिखारी हो जाए, पर न तो खराब माल बेचेगा और न लोगों को धोखा ही देगा। साथ ही अपने यहां काम करने वालों के साथ अत्यंत स्नेह का व्यवहार करेगा। बड़े कारखानों या कारबारों में जो नवयुवक नौकरी करते हैं, उनमें से कितनों को अक्सर घरबार छोड़कर दूर जाना होता है। वहां तो मालिक को ही उनका मां-बाप बनना होता है। मालिक इस विषय में लापरवाह होता है तो बेचारे नवयुवक बिना मां-बाप के हो जाते हैं। इसलिए पग-पग पर व्यापारी या मालिक को अपने-आप से यही प्रश्न करते रहना चाहिए—'मैं जिस तरह अपने लड़कों को रखता हूं वैसा ही बरताव नौकरों के साथ भी करता हूं या नहीं?'

इसी को सच्चा अर्थशास्त्र कहना चाहिए और जिस तरह जहाज के खतरे में पड़ जाने पर कप्तान का कर्तव्य होता है कि वह स्वयं सबके बाद जहाज से उतरे, उसी तरह अकाल इत्यादि संकटों में व्यापारी का कर्तव्य है कि अपने आदमियों की रक्षा अपने से पहले करे। इस प्रकार के विचार, संभव है कि कुछ लोगों को विचित्र मालूम हों, परंतु ऐसा मालूम होना ही इस जमाने की विशेष नवीनता है; क्योंकि विचार करके यह सभी देख सकते हैं कि सच्ची नीति तो वही हो सकती है, जो यहां बतलाई गई है। जिस समाज को ऊपर उठाना है, उसमें दूसरे प्रकार की नीति कदापि नहीं चल सकती।

सचाई के मूल के संबंध में पहले ही कहा जा चुका है। कोई अर्थशास्त्री उसका जवाब इस प्रकार दे सकता है—'यह ठीक है कि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से कुछ लाभ होता है, परंतु अर्थशास्त्री इस तरह के लाभ का हिसाब नहीं लगाते। वे जिस शास्त्र का विवेचन करते हैं, वह केवल इसी बात का विचार करता है कि मालदार बनने का क्या उपाय है?'

पर यह उत्तर ठीक नहीं है। व्यापारी रुपये कमाते हैं, पर वे यह नहीं जान सकते कि उन्होंने सचमुच कमाया या

नहीं और उससे राष्ट्र का कुछ भला हुआ है या नहीं। 'धनवान' शब्द का अर्थ भी वे अक्सर नहीं समझते। वे इस बात को नहीं जान पाते कि जहां धनवान होंगे वहां गरीब भी होंगे। कितनी बार वे भूल से यह मान लेते हैं कि किसी निर्दिष्ट नियम के अनुसार चलने से सभी आदमी धनी हो सकते हैं। सच पूछिए तो यह मामला कुएं के रहट-जैसा है। एक के खाली होने पर दूसरा भरता है। आपके पास जो एक रुपया होता है, उसका अधिकार उस पर चलता है, जिसके पास उतना नहीं होता। अगर आपके सामने या पास वाले आदमी को आपके रुपये की गरज न हो तो आपका रुपया बेकार है। आपके रुपये की शक्ति इस बात पर अवलंबित है कि आपके पड़ोसी को रुपये की कितनी तंगी है।

सार्वजनिक अर्थशास्त्र का अर्थ है ठीक समय पर, ठीक स्थान में, आवश्यक और सुखदायक वस्तुएं उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और उनकी अदल-बदल करना। जो किसान ठीक समय पर फसल काटता है, जो राजमिस्त्री ठीक-ठीक चुनाई करता है, जो बढ़ई लकड़ी का काम ठीक तौर से करता है, जो स्त्री अपना रसोईघर ठीक रखती है, उन सबको सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए। ये लोग सारे राष्ट्र की संपत्ति बढ़ाने वाले हैं। जो शास्त्र इसका उलटा है, वह सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता।

उसमें तो केवल एक मनुष्य धातु इकट्ठी करता है और दूसरों को उसकी तंगी में रखकर उसका उपभोग करता है। ऐसा करने वाले यह सोचकर कि उनके खेत और ढोर वगैरह के कितने रुपये मिलेंगे, अपने को उतना ही पैसे वाला मानते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनके रुपयों का मूल्य उससे जितने खेत और पशु मिल सकें उतना ही है। साथ ही वे लोग धातु का, रुपयों का संग्रह करते हैं। वे यह भी हिसाब लगाते हैं कि उससे कितने मजदूर मिल सकेंगे। एक आदमी के पास सोना-चांदी या अन्न आदि मौजूद है। ऐसे आदमी को नौकरों की जरूरत होगी, परंतु यदि उसके पड़ोसियों में से किसी को सोना-चांदी या अन्न की जरूरत न हो तो उसे नौकर मिलना कठिन होगा। अतः उस मालदार को खुद अपने लिए रोटी पकानी पड़ेगी, खुद अपने कपड़े सीने पड़ेंगे और खुद ही अपना खेत जोतना होगा। इस दशा में उसके लिए उसके सोने का मूल्य उसके खेत के पीले कंकड़ों से अधिक न होगा। उसका अन्न सड़ जाएगा, क्योंकि वह अपने पड़ोसी से ज्यादा तो खा न सकेगा। फल यह होगा कि उसको भी दूसरों की तरह कड़ी मेहनत करके ही गुजर करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में अधिक आदमी सोना-चांदी एकत्र करना पसंद न करेंगे। गहराई से सोचने पर हमें मालूम होगा कि धन प्राप्त करने का अर्थ दूसरे आदमियों पर अधिकार प्राप्त करना—अपने आराम के लिए नौकर, व्यापार या कारीगर की मेहनत पर अधिकार प्राप्त करना है और यह अधिकार, पड़ोसियों की गरीबी जितनी कम-ज्यादा होगी उसी हिसाब से मिल सकेगा। यदि एक बढ़ई से काम लेने की इच्छा रखने वाला एक ही आदमी हो तो उसे जो मजदूरी मिलेगी, वही वह ले लेगा। यदि ऐसे दो-चार आदमी हों तो उसे जहां अधिक मजदूरी मिलेगी—वहां जाएगा। सार यह है कि धनवान होने का अर्थ जितने अधिक आदमियों को हो सके, उतनों को अपने से ज्यादा गरीबी में रखना है। अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते हैं कि इस तरह लोगों को तंगी में रखने से राष्ट्र का लाभ होता है। सब बराबर हो जाएं, यह तो हो नहीं सकता; परंतु अनुचित रूप से लोगों में गरीबी पैदा करने से जनता दुखी हो जाती है, उसका अपकार होता है। कंगाली और मालदारी स्वाभाविक रूप से हों तो राष्ट्र सुखी होता है। ❖

ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येष न चकश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।।

—महाभारत

'मैं अपनी भुजा उठा कर उच्च स्वर से पुकार रहा हूं; परंतु कोई मेरी सुनता ही नहीं। धर्म से अर्थ उत्पन्न होता है, काम तृप्त होता है। फिर क्योंकर मनुष्य धर्म का सेवन नहीं करता?'

'महाभारत का अर्थ' से

विच्छेद हो जाना द्रव्य संवर है। नेमिचंद्र शास्त्री[11] ने भी द्रव्य संग्रह में इसी मान्यता को पुष्टि दी है। अयोगी केवली गुणस्थान में मन-वचन-काया के सूक्ष्म और स्थूल, दोनों, व्यापारों का सर्वथा निरोध हो जाता है, वह पूर्ण संवर है। इससे जीव अक्रिय बन जाता है! इसे अंतक्रिया कहते हैं। सब दुखों के अंत होने की प्रक्रिया का नाम अंतक्रिया है।

गौतम स्वामी ने पूछा—भंते! जइ अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति बुज्झंति, मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्व दुक्खाणं अंतकरेंति?

महावीर ने कहा—हंता गोयमा! जो अक्रिय हो जाता है, वह उसी भाव में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण को प्राप्त करता है। सब दुखों का अंत करता है। क्रिया सिद्धांत की ऐतिहासिकता आज भी विमर्शणीय है। यह दर्शन की मौलिक देन है। ❖

संदर्भ ग्रंथ

1. आयावाई लोगावाई कम्मावाई किरियावाई। आ. 1/5
2. वृत्ति, पत्र 18, परिस्पंदात्मिका चेष्टा रूपा।
3. चूर्णि पृष्ठ 336, एजनं, कम्पनं गमनं क्रियेत्यर्थान्तरं।
4. गीता 3/5, न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
5. उत्तराध्ययन 37/71, रागो य दोषो वि य कम्मबीयं।
6. तत्त्वार्थ 8/25, सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाढ स्थिता।
7. बृहद् द्रव्य संग्रह 38/5।
8. समयसार 146
9. नवपदार्थ पुण्य ढाल 52, 59
10. सूत्रकृतांग 1/8/3
11. वृ. द्रव्य संग्रह 24

❖❖

मनुष्य का इस जगत और उसके मूल कारण के साथ क्या संबंध है, यह जानने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसको दर्शनशास्त्र अथवा विज्ञान का ज्ञान हो (मनुष्य के अंतःकरण पर ज्ञान का बाहुल्य बोझ बनकर बाधक बन जाता है)। यदि कुछ आवश्यक है तो सिर्फ यही कि कुछ क्षण के लिए ही सही, वह दुनिया के झंझटों को त्याग दे, उसे अपनी पार्थिव नगण्यता का भान हो जाय और वह सचाई को अपने हृदय में स्थान दे दे। जैसा कि धर्मशास्त्रों में कहा गया है, यह गुण बच्चों में और सीधे-सादे, बिना पढ़े-लिखे लोगों में प्रायः देखे जाते हैं। यही कारण है कि प्रायः देखते हैं कि जो अत्यंत सीधे-सादे, कम-से-कम विद्वान और पढ़े-लिखे लोग होते हैं, बड़ी स्पष्टता, समझ और सरलता के साथ जीवन के सर्वश्रेष्ठ धार्मिक लक्ष्य को ग्रहण कर लेते हैं और अत्यंत विद्वान और 'सुसंस्कृत' व्यक्ति कुरूप और निम्न श्रेणी के धार्मिक विचारों के चक्कर में फंसे रहते हैं। उदाहरण के लिए आपको ऐसे लोग मिलेंगे जो अत्यंत सुसंस्कृत और सुशिक्षित होंगे। उनके समीप जीवन का लक्ष्य यही होता है कि व्यक्तिशः आनंदोपभोग करें अथवा दुखों से दूर रहें। महाविद्वान, उच्च शिक्षा प्राप्त और अच्छे पढ़े-लिखे यही मानते आए हैं कि धार्मिक कर्मकांड अथवा प्रभु की कृपा से आत्मा को मुक्ति मिल सकती है। इसके विपरीत आपको बिल्कुल बेपढ़ा-लिखा देहाती किसान मिल जाएगा—जो बिना किसी बौद्धिक प्रयत्न के जीवन का वही लक्ष्य समझ लेगा जैसा कि दुनिया के बड़े-बड़े संतों ने समझा था—अर्थात् यह कि वह परमात्मा का पुत्र है और उसकी इच्छा के अनुसार काम करने वाला एक अस्त्र है।

—लियो टॉल्सटॉय

इतनी बातें इस ढंग से उसने कभी नहीं कहीं। जवाब सुनकर विजय दंग रह गया। गांव की इस लड़की को उसने जितना अशिक्षित समझ रखा था, उतना वह नहीं है। थोड़ी देर स्थिर रहकर उससे अपना कसूर मंजूर करते हुए कहा, 'वास्तव में मेरा यह कहना उचित नहीं हुआ। जिनके विषय में यह बात ठीक हो सकती है, उनसे आप ज्यादा बड़ी हैं। मगर, दो-तीन दिन बाद ही मैं घर चला जाऊंगा। यहां आकर शुरू-शुरू में आपके साथ मैंने बहुत बुरा सलूक किया है, लेकिन वह बिना पहिचाने हुआ है। सचमुच संसार में ऐसा ही हुआ करता है। अक्सर यही होता है। फिर भी जाने के पहले मैं गहरी लज्जा के साथ क्षमा मांगता हूं।'

❑❑❑

त्रासदी अनुराधा की

शरतचंद्र चट्टोपाध्याय

इस मकान में आने के बाद एक पुरानी आरामकुर्सी मिल गई थी। शाम को उसी के हथेलों पर दोनों पैर पसारकर विजय आंख मीचे बैठा था कि कान में भनक पड़ी, 'बाबू साहब!' आंख खोलकर देखा—पास ही एक वृद्ध सज्जन खड़े सम्मान के साथ उसे संबोधन कर रहे हैं। विजय उठकर बैठ गया। सज्जन की उमर साठ के ऊपर पहुंच चुकी है, लेकिन मजे का गोलमटोल ठिंगना मजबूत समर्थ शरीर है। मूंछें पककर सफेद हो गई हैं, मगर गंजी चांद के इधर-उधर के बाल भौंरे-से काले हैं। सामने के दो-चार दांतों के सिवा बाकी प्रायः सभी बने हुए हैं। बदन पर टसर का कोट और कंधे पर चादर है। पांव में चीनी दूकान के बार्निशदार जूते हैं और घड़ी की सोने की चैन के साथ सोने से मढ़ा हुआ बाघ का नाखून लटक रहा है। गांव में ये सज्जन बहुत धनाढ्य मालूम पड़ते हैं। पास ही एक टूटी चौकी पर कुछ सामान रखा था। उसे खिसकाकर विजय ने उन्हें बैठने को कहा। वृद्ध सज्जन ने बैठकर कहा, 'नमस्कार बाबू साहब।'

विजय ने कहा, 'नमस्कार।'

आगंतुक ने कहा, 'आप गांव के जमींदार ठहरे, आपके पिताजी बड़े प्रतिष्ठित लखपती आदमी हैं। नाम लेते सुप्रभात होता है, आप उन्हीं के सुपुत्र हैं। उस बेचारी पर दया न करने से बड़े संकट में पड़ जाएगी।'

'बेचारी कौन? उस पर कितने रुपये निकलते हैं?'

सज्जन ने कहा, 'रुपये-पैसे का मामला नहीं है। जिसका मैं जिक्र कर रहा हूं, वह है स्वर्गीय अमर चटर्जी की कन्या। वे प्रातःस्मरणीय व्यक्ति थे। गगन चटर्जी की सौतेली बहन। यह उसका पैतृक मकान है। वह रहेगी नहीं, चली जाएगी, उसका इंतजाम हो गया है। मगर आप जो उसे गरदन पकड़ के निकाल दे रहे हैं, सो क्या आपके लिए उचित है?'

इस अशिक्षित वृद्ध पर गुस्सा नहीं किया जा सकता। विजय इस बात को मन-ही-मन समझ गया, परंतु बात करने के ढंग से वह जल-भुन गया। बोला, 'अपना उचित-अनुचित मैं खुद समझ लूंगा, मगर, आप कौन हैं जो उनकी तरफ से वकालत करने आए हैं?'

वृद्ध ने कहा, 'मेरा नाम है त्रिलोचन गंगोपाध्याय, पास के गांव मसजिदपुर में मकान है—सभी जानते हैं मुझे। आपके मां-बाप के आशीर्वाद से इधर ऐसा कोई आदमी मिलना मुश्किल है, जिसे मेरे पास जाकर हाथ न पसारना पड़ता हो। आपको विश्वास न हो तो विनोद घोष से पूछ सकते हैं।'

विजय ने कहा, 'मुझे हाथ पसारने की जरूरत होगी तो महाशयजी का पता लगा लूंगा। मगर जिनकी आप वकालत करने आए हैं, उनके आप लगते कौन हैं, क्या मैं जान सकता हूं?'

सज्जन मजाक की तौर पर जरा मुस्करा दिए, बोले,

'मेहमान। वैसाख के ये कुछ दिन बीतने पर ही मैं उससे ब्याह कर लूंगा।'

विजय चौंक पड़ा, बोला, 'आप विवाह करेंगे अनुराधा से?'

'जी हां। मेरा यह पक्का इरादा है। जेठ के बाद फिर जल्दी कोई लगन नहीं, नहीं तो इसी महीने में यह शुभ कार्य संपन्न हो जाता, यह रहने देने की बात मुझे आपसे कहनी भी न पड़ती।'

कुछ देर तक स्थिर रहकर विजय ने पूछा, 'इस ब्याह की अगुवाई किसने की? गगन चटर्जी ने?'

वृद्ध ने क्रुद्ध दृष्टि से देखते हुए कहा, 'वह तो फरारी असामी है, महाशय, रिआया का सत्यानाश करके चंपत हो गया है। इतने दिनों से वही तो विघ्न डाल रहा था, नहीं तो अगहन में ही ब्याह हो जाता। कहता था, हम लोग स्वभाव कुलीन ठहरे, कृष्ण की संतान, वंशज के घर बहन को नहीं ब्याहेंगे। यह था उसका बोल। अब वह गरूर कहां गया? वंशज के घर ही तो आखिर गरजू बनकर आना पड़ा! आजकल के जमाने में कुल कौन खोजता फिरता है महाशय? रुपया ही कुल है, रुपया ही इज्जत, रुपया ही सब-कुछ है, कहिए, ठीक है कि नहीं?'

विजय ने कहा, 'हां, सो तो ठीक है। अनुराधा ने मंजूर किया है?'

सज्जन ने दंभ के साथ अपनी जांघ पर हाथ मारकर कहा, 'मंजूर? कहते क्या हैं महाशय? खुशामदें की जा रही हैं। शहर से आकर आपने जो एक घुड़की दी, बस फिर क्या था, आंखों-तले अंधेरा दिखाई देने लगा, जाऊं तो जाऊं कहां—हो गया। नहीं तो मेरा तो इरादा ही बदल गया था। लड़कों की राय नहीं, बहुओं की राय नहीं, लड़कियां और दामाद भी सब विमुख हो गए थे—और मैंने भी सोचा कि जाने दो, गोली मारो, दो बार तो गृहस्थी हो चुकी—अब रहने दो। पर जब राधा ने स्वयं आदमी भेजकर मुझे बुलवाकर कहा कि 'गांगुली महाशय, चरणों में स्थान दीजिए, तुम्हारे घर आंगन बुहारकर खाऊंगी, सो भी अच्छा।' तब क्या करता, मंजूर करना ही पड़ा।'

विजय अवाक् हो रहा।

वृद्ध महाशय कहने लगे, 'ब्याह इसी मकान में होना चाहिए। देखने में जरा भद्दा मालूम होगा, नहीं तो मेरे मकान में भी हो सकता था। गगन चटर्जी की कोई एक बुआ हैं, वे ही कन्या-दान करेंगी। अब सिर्फ आप राजी हो जाएं तो सब काम ठीक हो जाए।'

विजय ने मुंह उठाकर कहा, 'राजी होकर मुझे क्या करना पड़ेगा, बताइए? मैं मकान खाली करने की ताकीद न करूं—यही तो? अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। अब आप जा सकते हैं। नमस्कार!'

'नमस्कार महाशयजी नमस्कार। सो तो है ही, सो तो है ही। आपके पिता ठहरे लखपती, प्रातःस्मरणीय आदमी, नाम लेने से सुप्रभात होता है।'

'सो होता है। आप अब पधारिए।'

'तो जाता हूं महाशयजी, नमस्कार।' कहकर त्रिलोचन बाबू चल दिए।

वृद्ध महाशय के चले जाने पर विजय चुपचाप बैठा हुआ अपने मन को समझा रहा था कि उसे इस मामले में सर खपाने की क्या जरूरत है? वास्तव में इसके सिवा लड़की के लिए चारा ही क्या है? कोई ऐसी बात नहीं है, जो संसार में पहले कभी हुई न हो। संसार में ऐसा तो होता ही रहता है, फिर उसके लिए दुश्चिंता किस बात की? सहसा विनोद घोष की बात उसे याद आ गई। उस दिन वह कह रहा था, अनुराधा अपने भइया के साथ इसी बात पर झगड़ने लगी थी कि कुल के गौरव से उसे क्या करना है, आसानी से खाने-पहनने-भर को मिल जाए, इतना ही काफी है।

प्रतिवाद में गगन ने गुस्से में आकर कहा था, तू क्या मां-बाप का नाम डुबोना चाहती है? अनुराधा ने जवाब दिया था, तुम उनके वंशधर हो, नाम कायम रख सको तो रखना, मैं नहीं रख सकूंगी।

इस बात की वेदना को विजय न समझ सका। खुद भी वह कौलीन्य सम्मान पर जरा भी विश्वास रखता हो, सो बात नहीं; मगर फिर भी उसकी सहानुभूति जा पड़ी गगन पर और अनुराधा के तीखे उत्तर की ज्यों-ज्यों अपने मन में आलोचना करने लगा त्यों-त्यों उसे वह लज्जाहीन, लोभी, हीन और तुच्छ मालूम होने लगी।

इधर बाहर में क्रमशः आदमियों की भीड़ जम रही थी, अब उनको लेकर उसे काम शुरू करना है; मगर आज उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगा। दरबान से कहकर उनको विदा कर दिया और बैठक में अकेला बैठा न गया तो वह न जाने क्या सोचकर एकबारगी सीधा घर के भीतर पहुंच गया। रसोईघर के सामने खुले बरामदे में चटाई बिछाकर

अनुराधा लेटी हुई है। उसके दोनों तरफ दोनों लड़के हैं—कुमार और संतोष। महाभारत की कहानी चल रही है। रात की रसोई का काम वह जल्दी-जल्दी निबटाकर रोज शाम के बाद इसी तरह लड़कों के साथ लेटकर कहानियां सुनाया करती है। फिर कुमार को खिला-पिलाकर उसे अपने बाप के पास भेज दिया करती है। चांदनी रात है, घन-पल्लव आम्रवृक्ष के पत्तों की संधों में से चांदनी छन-छनकर उनके शरीर पर, चेहरे पर पड़ रही है। पेड़ की छाया में किसी आदमी को इधर आते देखा तो अनुराधा ने चौंककर पूछा, 'कौन?'

'मैं हूं, विजय।'

तीनों जनें भड़भड़ाकर उठ बैठे। संतोष छोटे बाबू से ज्यादा डरता है, पहले दिन की याद उसे अभी भूली नहीं है। वह ऊहापोह करके भाग गया, कुमार ने भी अपने मित्र का अनुसरण किया।

विजय ने कहा, 'त्रिलोचन गांगुली को आप पहचानती हैं? आज वे मेरे पास आए थे।'

अनुराधा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा, 'आपके पास? मगर आप तो उनके कर्जदार नहीं हैं?'

'नहीं। मगर होता तो शायद आपको लाभ होता। मेरे एक दिन के अत्याचार का बदला आप और किसी दिन चुका सकतीं।'

अनुराधा चुप रही। विजय कहने लगा, 'वे जता गए हैं कि आपके साथ उनका ब्याह होना तय हो गया है। क्या यह सच है?'

'हां।'

'आपने खुद उपयाचक बनकर उन्हें राजी किया?'

'हां, यही बात है।'

'अगर ऐसा ही है, तो बड़ी शरम की बात है। केवल आपके लिए ही नहीं, मेरे लिए भी।'

'आपके लिए क्यों?'

'यही बतलाने के लिए आया हूं। त्रिलोचन कह गए हैं कि मेरी ज्यादती से ही शायद आपने ऐसा प्रस्ताव किया है। कहते थे, आपके लिए ठौर नहीं और बहुत आरजू-बिनती करके आपने उन्हें राजी किया है, नहीं तो इस बुढ़ापे में उन्होंने ब्याह की इच्छा छोड़ दी थी। केवल आपके रोने-धोने पर दया करके ही त्रिलोचन राजी हुए हैं!'

'हां, यह सब सच है।'

विजय ने कहा, 'अपनी ज्यादती मैं वापस लेता हूं, और अपने आचरण के लिए आपसे क्षमा चाहता हूं।'

अनुराधा चुप रही। विजय कहने लगा, 'अब अपनी तरफ से आप प्रस्ताव को वापस ले लीजिए।'

'नहीं, सो नहीं हो सकता। मैंने वचन दे दिया है—सब कोई सुन चुके हैं—लोग उनका मखौल उड़ाएंगे।'

'और इसमें नहीं उड़ाएंगे? बल्कि बहुत ज्यादा उड़ाएंगे। उनके बराबर के लड़के हैं, लड़कियां हैं, उनके साथ लड़ाई-झगड़ा होगा; उनकी घर-गृहस्थी में उपद्रव उठ खड़ा होगा, खुद आपके लिए भी अशांति की हद न रहेगी—ये सब बातें आपने सोच-विचार ली हैं?'

अनुराधा ने मुलायम स्वर में कहा, 'सोच ली हैं। मेरा विश्वास है कि यह सब-कुछ नहीं होने का।'

सुनकर विजय दंग रह गया, बोला, 'वृद्ध हैं, कितने दिन जीएंगे—आप आशा करती हैं?'

अनुराधा ने कहा, 'पति की परमायु संसार में सभी स्त्रियां चाहती हैं। ऐसा भी हो सकता है कि सुहाग लिए मैं ही पहले मर जाऊं।'

विजय को इस बात का जवाब ढूंढ़े न मिला, स्तब्ध खड़ा रहा। कुछ क्षण इसी तरह निस्तब्धता में बीत जाने पर अनुराधा ने विनीत स्वर में कहा, 'यह सच है कि आपने मुझे चले जाने का हुक्म दे दिया है, मगर फिर किसी दिन उस बात का उल्लेख तक नहीं किया। दया के योग्य मैं नहीं हूं, फिर भी आपने दया की है। मन-ही-मन मैं इसके लिए कितनी कृतज्ञ हूं, यह जता नहीं सकी हूं।'

विजय की तरफ से कोई उत्तर न पाकर कहने लगी, 'भगवान जानते हैं, आपके विरुद्ध किसी के पास मैंने एक भी बात नहीं कही। कहने से मेरी तरफ से अन्याय होता, मेरा झूठा कहना होता। गांगुली महाशय ने अगर कुछ कहा हो, तो वह उनकी बात है, मेरी नहीं। फिर भी मैं उनकी तरफ से क्षमा मांगती हूं।'

विजय ने पूछा, 'आप लोगों का ब्याह कब है, 13 जेठ को? तो करीब महीना-भर बाकी है—न?'

'हां।'

'इसमें अब कोई परिवर्तन नहीं हो सकता शायद?'

'शायद नहीं। कम-से-कम, भरोसा तो वे ऐसा ही दे गए हैं।'

विजय बहुत देर तक चुप रहकर बोला, 'तो फिर मुझे

और कुछ नहीं कहना। लेकिन अपने भविष्य के जीवन पर आपने जरा भी विचार नहीं किया, इस बात का मुझे बड़ा अफसोस है।'

अनुराधा ने कहा, 'एक बार नहीं, सौ-सौ बार विचार कर लिया है। यह मेरी दिन-रात की चिंता है। आप मेरे शुभाकांक्षी हैं, आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने की भाषा ढूंढ़े नहीं मिलती, लेकिन आप खुद ही तो एक बार मेरे विषय में सारी बातें सोच देखिए, पैसा नहीं, रूप नहीं, घर नहीं, बिना अभिभावक की अकेली, गांव कें अनाचार-अत्याचारों से बचकर कहीं जाकर खड़े होने तक का ठौर नहीं—उमर हो गई तेईस-चौबीस। उनके सिवा और कौन मुझे ब्याहना चाहेगा, आप ही बताइए? तब फिर दाने-दाने के लिए किसके सामने हाथ पसारती फिरूंगी? सुनकर आप भी क्या सोचेंगे मन में?'

ये सभी बातें सच हैं, प्रतिवाद में कुछ कहा नहीं जा सकता। दो-तीन मिनट निरुत्तर खड़े रहकर विजय ने गंभीर अनुताप के साथ कहा, 'ऐसे समय में क्या आपका मैं कोई भी उपकार नहीं कर सकता? कर सकता तो बहुत खुश होता।'

अनुराधा ने कहा, 'आपने मेरा बहुत उपकार किया है, जो कोई नहीं करता। आपके आश्रय में मैं निडर हूं। दोनों बच्चे मेरे चांद-सूरज हैं—यही मेरे लिए काफी है। आपसे सिर्फ इतनी ही प्रार्थना है कि मन-ही-मन आप मुझे भइया के दोष की भागिनी न बना रखिएगा, मैंने जान-बूझकर कोई अपराध नहीं किया।'

'मुझे मालूम हो गया है; आपको कहना न होगा।' इतना कहकर विजय धीरे-धीरे बाहर चला गया।

कलकत्ते से कुछ साग-सब्जी, फल-फलारी और मिठाई वगैरह आई थी। विजय ने नौकर से रसोईघर के सामने टोकरी उतरवाकर कहा, 'भीतर होंगी जरूर—'

भीतर से मृदुकंठ से उत्तर आया—'जी हां।'

विजय ने कहा, 'आपको पुकारना भी मुश्किल है। हमारे समाज में होतीं, तो मिस चटर्जी या मिस अनुराधा कहकर आसानी से पुकारा जा सकता था, पर यहां तो वह बात बिलकुल चल ही नहीं सकती। आपके लड़कों में से कोई होता तो उनमें से किसी को 'अपनी मौसी को बुला दे' कहकर काम निकाल लिया जा सकता था, पर इस वक्त वे भी फरार हैं। क्या कहकर बुलाऊं बताइए?'

अनुराधा दरवाजे के पास आकर बोली, 'आप मालिक ठहरे, मुझे राधा कहकर पुकारा कीजिए।'

विजय ने कहा, 'बुलाने में कोई आपत्ति नहीं, पर मालिकाना हक के जोर से नहीं। मालिकाना हक था—गगन चटर्जी पर, मगर वह तो चंपत हो गया। आप क्यों मालिक मानने लगीं? आपको किस बात की गरज है?'

भीतर से सुनाई दिया, 'ऐसी बात न कहिए—आप हैं तो मालिक ही।'

विजय ने कहा, 'उसका दावा मैं नहीं करता, पर उमर का दावा जरूर रखता हूं। मैं आपसे बहुत बड़ा हूं; नाम लेकर पुकारा करूं तो आप नाराज न होइएगा।'

'नहीं।'

विजय ने इस बात पर लक्ष्य किया है कि घनिष्ठता करने का आग्रह स्वयं उसकी तरफ से कितना ही प्रबल क्यों न हो, पर दूसरे पक्ष की तरफ से जरा भी नहीं। वह किसी भी तरह सामने नहीं आना चाहती और बराबर संक्षेप और सम्मान के साथ ही ओट में छिपे-छिपे उत्तर दिया करती है।

विजय ने कहा, 'घर से कुछ साग-सब्जी, फल, मिठाई वगैरह आई है। इस टोकरी को उठाकर रख दीजिए, लड़कों को दे दीजिएगा।'

'छोड़ जाइए। जरूरत के माफिक रखकर आपके यहां बाहर भिजवा दूंगी।'

'नहीं, सो मत कीजिएगा। मेरा रसोइया ठीक से रसोई बनाना नहीं जानता। दोपहर से देख रहा हूं कि चादर तान के पड़ा हुआ है। मालूम नहीं, कहीं आपके देश के मलेरिया ने घेर लिया हो। बीमार पड़ गया तो परेशान कर डालेगा।'

'पर मलेरिया तो हमारे यहां नहीं है। वह अगर न उठा तो आपकी रसोई कौन बनाएगा?'

विजय ने कहा, 'इस छाक की तो कोई बात नहीं, कल सबेरे विचार किया जाएगा। और 'कुकर' तो साथ में है ही, कुछ नहीं हुआ तो अंत में नौकर से ही उसमें कुछ बनवा लूंगा।'

'लेकिन उसमें तकलीफ तो होगी ही?'

'नहीं। मुझे तो आदत पड़ी हुई है। हां, लड़के को तकलीफ पाते देखता तो जरूर कष्ट होता, सो उसका भार आपने ले रखा है। क्या बना रही हैं इस छाक? टोकरी खोल के देखिए न शायद कोई चीज काम आ जाए।'

'काम तो आएगी ही। पर इस छाक मुझे रसोई बनानी नहीं है।'

'नहीं बनानी? क्यों?'

'कुमार की देह कुछ गरम-सी मालूम होती है, रसोई बनाने से वह खाने के लिए मचलेगा। उस छाक का जो-कुछ बचा है, उससे संतोष का काम चल जाएगा।'

'देह गरम हो रही है उसकी? कहां है वह?'

'मेरे बिछौने पर पड़ा संतोष के साथ गप-शप कर रहा है। आज कह रहा था, बाहर नहीं जाएगा। मेरे ही पास सोएगा।'

विजय ने कहा 'सो, सोया रहे; लेकिन ज्यादा लाड़-दुलार पाने से फिर वह मौसी को छोड़कर घर नहीं जाना चाहेगा। तब फिर एक नई परेशानी उठानी पड़ेगी।'

'नहीं उठानी पड़ेगी। कुमार कहना न मानने वाला लड़का नहीं है।'

विजय ने कहा, 'क्या होने से कहना न मानने वाला होता है, सो आप जानें; पर मैंने तो सुना है कि आपको वह कम परेशान नहीं करता।'

अनुराधा कुछ देर चुप रहकर बोली, 'परेशान करता है तो सिर्फ मुझही को करता है और किसी को नहीं करता।'

विजय ने कहा, 'सो मैं जानता हूं। लेकिन, मौसी ने तो मान लो कि सह लिया, पर ताईजी उसकी नहीं सहने की और अगर किसी दिन विमाता आ गई तो जरा भी बरदाश्त नहीं करेगी। आदत बिगड़ जाने से खुद उसी के लिए विपद होगी।'

'लड़के के लिए विपद हो ऐसी विमाता आप घर में लावें ही क्यों? न सही।'

विजय ने कहा, 'लानी नहीं पड़ती, लड़के की तकदीर फूटने पर विमाता अपने-आप घर में आ जाती है। तब उस खराबी को रोकने के लिए मौसी की शरण लेनी पड़ती है। पर हां, अगर वे राजी हों।'

अनुराधा ने कहा, 'जिसकी मां नहीं है, मौसी उसे छोड़ नहीं सकती। कितने भी दुखों में क्यों न हो, उसे पाल-पोसकर बड़ा करती ही है।'

'बात को सुने रखता हूं।' कहकर विजय चला जा रहा था, फिर लौटकर बोला, 'अगर अविनय को माफ करें तो एक बात पूछूं?'

'पूछिए।'

'कुमार की चिंता पीछे की जाएगी, कारण उसका बाप जिंदा है। आप उसे जितना निष्ठुर समझती हैं, उतना वह नहीं है। पर संतोष? उसके बाप-मां दोनों ही जाते रहे हैं। नए मौसा त्रिलोचन के घर अगर उसके लिए ठौर न हो तो क्या करेंगी? इस बात पर विचार किया है?'

अनुराधा ने कहा, 'मौसी के लिए स्थान होगा, भांजे के लिए नहीं होगा?'

'होना तो चाहिए। लेकिन, जितना मैं उन्हें देख सका हूं, उससे तो ज्यादा भरोसा नहीं होता।'

इस बात का जवाब अनुराधा उसी वक्त न दे सकी, सोचने में जरा समय लगा। फिर शांत और दृढ़ कंठ से कहने लगी, 'तब पेड़ के नीचे दोनों के लिए स्थान होगा। उसे कोई नहीं रोक सकता।'

विजय ने कहा, 'बात तो मौसी के लायक है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता, मगर यह संभव नहीं। तब उसे मेरे पास भेज दीजिएगा। वह कुमार का साथी है—कुमार अगर आदमी बन सका तो वह भी बन जाएगा।'

भीतर से फिर कोई जवाब नहीं आया। विजय कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद बाहर चला गया।

दो-तीन घंटे बाद संतोष आकर दरवाजे के बाहर से बोला—'मौसीजी आपको खाने के लिए बुला रही हैं।'

'मुझे?' विजय ने पूछा।

'हां।' कहकर चला गया।

अनुराधा के रसोईघर में आसन बिछा हुआ था। विजय आसन पर बैठकर बोला, 'रात आसानी से कट जाती, क्यों आपने इतनी तकलीफ उठाई?'

अनुराधा पास ही खड़ी थी, चुप रही।

परोसी हुई चीजों में कोई अधिक नहीं थी, पर जतन से बनाए और परोसे जाने का परिचय हर चीज में झलक रहा था। कैसे सुंदर ढंग से वे चीजें सजी हुई थीं! खाते-खाते विजय ने पूछा, 'कुमार ने क्या खाया?'

'सागू पीकर सो गया है।'

'लड़ा नहीं आज?'

अनुराधा हंस दी। बोली, 'मेरे पास सोएगा, इसलिए आज वह बिलकुल शांत है। कतई नहीं लड़ा।'

विजय ने कहा, 'उसके कारण आपकी झंझटें बढ़ गई हैं, पर इसमें मेरा दोष नहीं। वह खुद कैसे आपकी गृहस्थी

में आकर चुपचाप शामिल हो गया, यही मैं सोचता हूं।'

'मैं भी यही सोचती हूं।'

'मालूम होता है, उसके चले जाने पर आपको कष्ट होगा।'

अनुराधा पहले तो चुप रही, फिर बोली, 'उसे घर ले जाने के पहले आपको एक वचन दे जाना होगा। आपको इस बात की निगरानी रखनी होगी कि उसे किसी बात की तकलीफ न होने पाए।'

'मगर मैं तो बाहर रहूंगा, काम-काज के झंझटों में। अपने वचन की रक्षा कर सकूंगा, इस बात का भरोसा नहीं होता।'

'तो फिर उसे मेरे पास छोड़ जाना होगा।'

'आप गलती कर रही हैं। यह और भी असंभव है।' इतना कहकर विजय हंसता हुआ खाने में लग गया। खाते-खाते बीच में बोल उठा, 'भाभी वगैरह की आने की बात थी, शायद वे अब आएंगी नहीं।'

'क्यों?'

'जिस धुन में कहा था, वह धुन शायद जाती रही होगी। शहर के लोग गांव की तरफ जल्दी कदम नहीं बढ़ाना चाहते। एक हिसाब से अच्छा ही हुआ। अकेला मैं ही आपको असुविधा पहुंचा रहा हूं, उन लोगों के आने से और भी दिक्कत होती।'

अनुराधा ने इस बात का प्रतिवाद करते हुए कहा, 'आपका यह कहना अन्याय है। घर मेरा नहीं, आपका है। फिर भी मैं ही सारी जगह घेरे बैठी रहूं और उनके आने पर नाराज होऊं, इससे ज्यादा अन्याय और कुछ हो ही नहीं सकता। मेरे बारे में ऐसी बात सोचकर, मेरे प्रति सचमुच ही आप अन्याय कर रहे हैं। जितनी दया आपने मुझ पर की है, मेरी तरफ से उसका क्या यही प्रतिदान है?'

इतनी बातें इस ढंग से उसने कभी नहीं कहीं। जवाब सुनकर विजय दंग रह गया। गांव की इस लड़की को उसने जितना अशिक्षित समझ रखा था, उतना वह नहीं है। थोड़ी देर स्थिर रहकर उससे अपना कसूर मंजूर करते हुए कहा, 'वास्तव में मेरा यह कहना उचित नहीं हुआ। जिनके विषय में यह बात ठीक हो सकती है, उनसे आप ज्यादा बड़ी हैं। मगर, दो-तीन दिन बाद ही मैं घर चला जाऊंगा। यहां आकर शुरू-शुरू में आपके साथ मैंने बहुत बुरा सलूक किया है, लेकिन वह बिना पहिचाने हुआ है। सचमुच संसार में ऐसा ही हुआ करता है। अक्सर यही होता है। फिर भी जाने के पहले मैं गहरी लज्जा के साथ क्षमा मांगता हूं।'

अनुराधा ने मृदु कंठ से कहा, 'क्षमा आपको नहीं मिल सकती।'

'नहीं मिल सकती? क्यों?'

'अब तक जितना आपने अत्याचार किया है, उसकी क्षमा नहीं'—कहकर हंस दी। प्रदीप के अल्प प्रकाश में उसके हंसी-भरे चेहरे पर विजय की नजर पड़ गई और क्षण-भर के एक अज्ञात विस्मय से उसका सारा हृदय हिल कर तुरंत स्थिर हो गया। क्षण-भर चुप रहकर बोला, 'यही अच्छा है, मुझे क्षमा करने की जरूरत नहीं। अपराधी के रूप में ही मैं हमेशा याद आता रहूं।'

दोनों चुप रहे। दो-तीन मिनट तक कमरे में बिलकुल सन्नाटा रहा।

निस्तब्धता भंग की अनुराधा ने। उसने पूछा, 'आप फिर कब तक आएंगे।'

'बीच-बीच में आना तो होगा ही गोकि आपसे भेंट न होगी।'

दूसरे पक्ष से प्रतिवाद नहीं किया गया, समझ में आ गया कि बात सच है।

खा चुकने के बाद विजय के बाहर जाते समय अनुराधा ने कहा, 'टोकरी में बहुत तरह की तरकारियां हैं, पर बाहर अब न भेजूंगी। कल सबेरे भी आप यहीं भोजन कीजिएगा।'

'तथास्तु। मगर, समझ तो गई होंगी शायद कि औरों की अपेक्षा मेरी भूख ज्यादा है। नहीं तो प्रस्ताव पेश करता कि सिर्फ सबेरे ही नहीं, निमंत्रण की मियाद और भी बढ़ा दीजिए—जितने दिन मैं यहां रहूं और जिससे आपके हाथ की ही खाकर, घर चला जा सकूं।'

उत्तर मिला, 'यह मेरा सौभाग्य है।'

दूसरे दिन सबेरे ही अनेक प्रकार के खाद्य-पदार्थ अनुराधा के रसोईघर के बरामदे में आ पहुंचे। उसने कोई आपत्ति नहीं की, उठाकर रख दिए।

इसके बाद तीन दिन के बदले पांच दिन बीत गए। कुमार बिलकुल स्वस्थ हो गया। इन कई दिनों में विजय ने क्षोभ के साथ लक्ष्य किया कि आतिथ्य की त्रुटि कहीं भी नहीं, पर परिचय की दूरी वैसी ही अविचलित बनी हुई है। किसी भी बहाने वह तिल-भर भी निकटवर्ती नहीं हुई।

बरामदे में भोजन के लिए जगह करके अनुराधा भीतर ही से ढंग के साथ थाली लगा देती है और संतोष परोसता है। कुमार आकर कहता, 'पिताजी, मौसीजी कहती हैं कि तरकारी इतनी छोड़ देने से काम न चलेगा और जरा खानी होगी।' विजय कहता, 'अपनी मौसीजी से कह दे कि पिताजी को राक्षस समझना ठीक नहीं।' कुमार लौटकर कहता, 'तरकारी रहने दो, शायद अच्छी न हुई होगी। लेकिन कल की तरह कटोरे में दूध पड़ा रहने से उन्हें दुख होगा।' विजय ने सुनाकर कहा, 'तेरी मौसीजी अगर कल से नांद के बदले कटोरे में दूध दिया करें तो न पड़ा रहेगा।'

इसी तरह ये पांच दिन बीत गए। स्त्रियों के आदर-जतन का चित्र विजय के मन में हमेशा से ही अस्पष्ट था। अपनी मां को वह बचपन से ही अस्वस्थ और अपटु देखता आया है। गृहिणीपन का कोई भी कर्तव्य वे पूरी तौर से नहीं कर पाती थीं। उसकी अपनी स्त्री भी सिर्फ दो-ढाई साल जीवित रही। तब वह पढ़ता था। उसके बाद फिर उसका लंबा समय सुदूर प्रवास में ही बीता। उस दिशा के अपने अनुभवों की भली-बुरी बहुत-सी स्मृतियां कभी-कभी उसे याद आ जाती हैं, परंतु वे सब मानों पुस्तक में पढ़ी हुई कल्पित कहानियों की तरह अवास्तव मालूम होती हैं। जीवन की वास्तविक आवश्यकताएं पूर्ण रूप से संबंध-विहीन रहीं।

और हैं उसकी भाभी प्रभामयी। सो जिस परिवार में भाभी का प्राधान्य है, भले-बुरे की आलोचना हुआ करती है, वह परिवार उसे अपना नहीं मालूम होता। मां को उसने बहुत बार रोते देखा है, पिता को नाराज और उदास रहते देखा है। पर, इन सब बातों को उसने खुद ही असंगत और अनधिकार-चर्चा समझा है। ताई अपने देवर-पुत्रों की खबर न ले, या बहू अपने सास-ससुर की सेवा न करे तो बड़ा-भारी अपराध है—ऐसी धारणा भी उसकी नहीं थी और स्वयं अपनी स्त्री को भी अगर ऐसा आचरण करते देखता तो वह मर्माहत होता, सो बात भी नहीं। परंतु आज उसकी इतने दिनों की धारणा को इन अंतिम पांच दिनों ने मानों धक्के देकर शिथिल कर दिया। आज शाम की गाड़ी से उसके कलकत्ता रवाना होने की बात थी। नौकर-चाकर चीज-वस्तु बांधकर तैयारी कर रहे थे। कुछ ही घंटों की देर थी, इतने में संतोष ने आकर ओट में से कहा, 'मौसीजी भोजन के लिए बुला रही हैं।'

'इस वक्त?'

'हां,' कहकर संतोष वहां से खिसक लिया।

विजय ने भीतर जाकर देखा कि बरामदे में बाकायदा आसन बिछाकर भोजन के लिए स्थान कर दिया गया है। मौसी का गला पकड़कर कुमार झूल रहा था। उसके हाथ से अपने को छुड़ाकर अनुराधा रसोईघर में घुस गई।

आसन पर बैठकर विजय ने कहा, 'इस वक्त यह क्या?'

भीतर से अनुराधा ने कहा, 'जरा खिचड़ी बना रक्खी है, खाते जाइए।'

जवाब देते समय विजय को अपना गला जरा साफ कर लेना पड़ा। बोला, 'बेवक्त आपने क्यों तकलीफ की? इसकी अपेक्षा चार-छ पूड़ियां ही उतार देतीं, तो काम चल जाता।'

अनुराधा ने कहा, 'पूड़ी तो आप खाते नहीं। घर पहुंचते-पहुंचते रात के दो-तीन बज जाएंगे। बगैर खाए उपासे जाते तो क्या मुझे कम तकलीफ होती? बराबर खयाल आता रहता कि लड़का गाड़ी में बिना खाए-पिए यों ही सो गया होगा।'

विजय चुपचाप खाता रहा। फिर बोला, 'विनोद को कह दिया है, वह आपकी देख-रेख करता रहेगा। जितने दिन आप इस मकान में हैं, आपको किसी तरह की तकलीफ न होगी।'

फिर वह कुछ देर चुप रहकर कहने लगा, 'और एक बात आपसे कह जाता हूं। अगर कभी भेंट हो तो गगन से कह दीजिए कि मैंने उसे माफ कर दिया, पर इस गांव में अब वह न आए। आने से माफ न करूंगा।'

'कभी भेंट हुई तो उनसे कह दूंगी।' इतना कहकर अनुराधा चुप हो गई। फिर क्षण-भर बाद बोली, 'मुश्किल है कुमार को लेकर। आज वह किसी तरह जाने को राजी नहीं होता और जाना क्यों नहीं चाहता, सो भी नहीं बताता।'

विजय ने कहा, 'इसलिए नहीं बताता कि वह खुद नहीं जानता और मन-ही-मन यह भी समझता है कि वहां जाने से उसे तकलीफ होगी।'

'तकलीफ क्यों होगी?'

'उस घर का यही नियम है। पर, हो तकलीफ। आखिर इतना बड़ा हुआ तो वहीं है।'

'उसे ले जाने की जरूरत नहीं। यहीं रहने दीजिए मेरे पास।'

विजय ने हंसते हुए कहा, 'मुझे कोई आपत्ति नहीं, मगर ज्यादा-से-ज्यादा एक महीने रह सकता है। उससे ज्यादा तो रह नहीं सकता, इससे लाभ क्या?'

दोनों ही मौन रहे। अनुराधा ने कहा, 'इसकी जो विमाता आएंगी, सुना है कि वे शिक्षित हैं।'

'हां, वे बी. ए. पास हैं।'

'पर बी. ए. तो इसकी ताई ने भी पास किया है?'

'जरूर किया है। मगर बी. ए. पास करने वाली किताबों में देवर-पुत्र को लाड़-प्यार से रखने की बात नहीं लिखी। इस विषय की परीक्षा उन्हें नहीं देनी पड़ी।'

'और बीमार सास-ससुर की? क्या यह बात भी किताब में नहीं लिखी रहती?'

'नहीं। यह प्रस्ताव और ज्यादा हास्यकर है।'

'हास्यकर न हो, ऐसी भी कोई बात है।'

'है। जरा भी किसी तरह की शिकायत न करना ही हमारे समाज का सुभद्र विधान है।'

अनुराधा क्षणभर मौन रहकर बोली, 'यह विधान आप ही लोगों में रहे। पर जो विधान सबके लिए एक-सा है, वह यह है कि लड़के से बढ़कर बी. ए. पास नहीं है। ऐसी बहू को घर लाना अनुचित है।'

'लेकिन लाना तो किसी-न-किसी को पड़ेगा ही। हम लोग जिस समाज की आबहवा में रह रहे हैं, वहां बी. ए. पास बगैर इज्जत नहीं बचती, मन भी नहीं मानता और शायद घर-गृहस्थी भी नहीं चलती। मां-बाप मरे, भांजे के लिए पेड़ के नीचे रहना मंजूर करने वाली बहू के साथ हम वनवास कर सकते हैं, पर समाज में नहीं रह सकते।'

अनुराधा का स्वर क्षण-भर के लिए तीखा हो उठा, बोली, 'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। आप इसे किसी निर्दय विमाता के हाथ नहीं सौंप सकते।'

विजय ने कहा, 'सो कोई डर नहीं। कारण, सौंप देने पर भी कुमार हाथ से फिसलकर नीचे आ गिरेगा। पर, इसके माने यह नहीं कि वे निर्दय ही हैं। अपनी भावी पत्नी की तरफ से मैं आपकी बात का तीव्र प्रतिवाद करता हूं। मार्जित-रुचि-सम्मत उदास अवहेलना से उनमें मुरझाई हुई आत्मीयता की बर्बरता नाममात्र को भी नहीं। यह दोष आप उन्हें न दीजिए।'

अनुराधा हंसकर बोली, 'प्रतिवाद आप जितना चाहें, करें, पर मुझे मुरझाई हुई आत्मीयता के माने तो जरा समझा दीजिए?'

विजय ने कहा, 'यह हम लोगों के बड़े सर्किल का पारिवारिक बंधन है। उसका 'कोड' ही अलग है और चेहरा भी स्वतंत्र है। उसकी जड़ें रस नहीं खींचतीं, पत्तों का रंग हरा भी नहीं होने पाता कि पीला होने लगता है। आप गांव के गृहस्थ-घर की लड़की हैं—स्कूल-कालेज में पढ़कर पास नहीं हुईं, पार्टी या पिकनिक में शरीक नहीं हुईं, लिहाजा इसका निगूढ़ अर्थ आपको मैं समझा नहीं सकता। सिर्फ इतना-सा आभास दे सकता हूं कि कुमार की विमाता आकर उसे जहर पिलाने की भी तैयारी न करेगी और न चाबुक हाथ में लेकर उसके पीछे ही पड़ जाएगी, क्योंकि वह मार्जित-रुचि-विरुद्ध आचरण है। इसलिए इस बारे में आप निश्चिंत हो सकती हैं।'

अनुराधा ने कहा, 'मैं उनकी बात छोड़े देती हूं, पर आप वचन दीजिए कि खुद भी देखभाल करेंगे। मेरी सिर्फ इतनी ही विनती है।'

विजय ने कहा, 'वचन देने को तो जी चाहता है, पर मेरा स्वभाव और तरह का है। आदत भी दुनिया से अलग है। आपके आग्रह की याद करके बीच-बीच में देखने-भालने की कोशिश करता रहूंगा। मगर, जितना आप चाहती हैं, उतना हो सकेगा—ऐसा तो नहीं मालूम होता। अच्छा, अब मैं भोजन कर चुका, जाता हूं। चलने की तैयारी करनी है।'

इतना कहकर वह उठ बैठा। बोला, 'कुमार आप ही के पास रहेगा, घर छोड़ने का दिन आ जाए तो उसे विनोद के साथ कलकत्ता भेज देना। जरूरत महसूस करें तो उसके साथ संतोष को भी बिना किसी संकोच के भेज दें। शुरू-शुरू में आपके साथ जैसा सलूक किया है, ठीक वैसी ही मेरी प्रकृति नहीं है। चलते वक्त आपको भरोसा दिए जाता हूं कि मेरे घर कुमार से ज्यादा अनादर संतोष का नहीं होगा।'

मकान के सामने घोड़ा-गाड़ी खड़ी है, चीज-वस्तु लादी जा चुकी है, विजय गाड़ी पर चढ़ना ही चाहता था कि कुमार ने कहा, 'पिताजी, मौसीजी बुला रही हैं।'

अनुराधा सदर दरवाजे के पास खड़ी थी, बोली, 'प्रणाम करने के लिए बुलवा लिया, फिर कब कर सकूंगी, मालूम नहीं।' कहकर उसने गले में आंचल डालकर दूर से

प्रणाम किया। फिर उठकर खड़ी हो गई और कुमार को अपनी गोद के पास खींचकर बोली, 'दादीजी से कह दीजिए कि सोच-फिकर न करें। जितने भी दिन मेरे पास रहेगा, किसी तरह का अनादर न होगा।'

विजय ने हंसकर कहा, 'विश्वास होना मुश्किल है।'

'मुश्किल किसके लिए? क्या आपके लिए भी?' कहकर वह हंस पड़ी और दोनों की चार आंखें हो गईं। विजय ने स्पष्ट देख लिया कि उसके पलक भीगे हुए हैं। मुंह झुकाकर उसने कहा, 'किंतु कुमार को ले जाकर तकलीफ न दीजिए। फिर कहने का मौका नहीं मिलेगा, इसी से बराबर कह रही हूं। आपके घर की बात याद आते ही उसे भेजने को जी नहीं चाहता।'

'तो मत भेजिए।'

उत्तर में वह एक सांस दबा कर चुप रह गई।

विजय ने कहा, 'जाने के पहले आपको अपने वादे की बात फिर एक बार याद दिला जाऊं। आपने वचन दिया है कि कभी कोई जरूरत पड़ेगी तो मुझे चिट्ठी लिखेंगी।'

'मुझे याद है। मैं जानती हूं कि गांगुली महाशय से मुझे भिखारिन की तरह ही मांगना होगा, मन के संपूर्ण धिक्कार को तिलांजलि देकर ही मांगना होगा, पर आपके पास वह बात नहीं। जो चाहूंगी बिना किसी संकोच के आसानी से मांग लूंगी।'

'पर याद रहे!' कहकर विजय जाना ही चाहता था कि अनुराधा ने कहा, 'तो आप भी एक वचन देते जाइए। कहिए कि जरूरत पड़ने पर मुझे भी जताएंगे?'

'जताने के लायक मुझे क्या जरूरत पड़ेगी अनुराधा?'

'सो कैसे बताऊं। मेरे पास और कुछ नहीं है, पर जरूरत आ पड़ने पर हृदय से सेवा तो कर सकती हूं।'

'आपको वे करने देंगे?'

'मुझे कोई भी नहीं रोक सकता।' ❖

कोई भी कर्म जब इस भावना से किया जाता है कि वह परमेश्वर का है, तो मामूली होने पर भी पवित्र हो जाता है, यह बात अनुभवसिद्ध है। मन में जरा यह भावना करके देखो तो कि जो व्यक्ति हमारे घर आया है वह ईश्वर रूप है। मामूली तौर पर कोई बड़ा आदमी भी जब हमारे घर आता है, तो हम कितनी सफाई रखते हैं और कैसा बढ़िया भोजन बनाते हैं। फिर यदि यह भावना करें कि यह परमेश्वर है, तो भला बताओ, हमारी उस क्रिया में कितना फर्क पड़ जाएगा? कबीर कपड़े बुनता था। उसी में निमग्न होकर वह गाता—**झीनी झीनी बीनी चदरिया।** वह गाता हुआ झूमता जाता, मानो परमेश्वर को ओढ़ाने के लिए वह चादर बुन रहा हो। ऋग्वेद का ऋषि कहता है—**वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयुः।** 'मैं अपना यह स्तोत्र सुंदर हाथों से बुने हुए वस्त्र की तरह ईश्वर को पहनाता हूं।' कवि स्तोत्र बनाता है ईश्वर के लिए। बुनकर जो वस्त्र बनाता है, सो भी ईश्वर के लिए ही। कैसी हृदयंगम कल्पना! कितना चित्त को विशुद्ध बनाने वाला और हृदय को हिलोर देने वाला विचार! यह भावना यदि जीवन में एक बार आ जाए, तो फिर जीवन कितना निर्मल हो जाएगा! अंधेरे में बिजली चमकती है, तो वह अंधेरा एक क्षण में प्रकाश बन जाता है। वह अंधकार क्या धीरे-धीरे प्रकाश बनता है? नहीं, एक क्षण में ही साक्षा भीतर-बाहर परिवर्तन हो जाता है। उसी तरह प्रत्येक क्रिया को ईश्वर से जोड़ देते ही जीवन में एकदम अद्‌भुत शक्ति आती है। प्रत्येक क्रिया विशुद्ध होने लगती है। जीवन में उत्साह का संचार होता है। आज हमारे जीवन में उत्साह है कहां? हम जी रहे हैं, क्योंकि मरते नहीं। उत्साह का चारों ओर अकाल है। कलाहीन रोता जीवन! परंतु जरा यह भाव मन में लाओ कि हमें अपनी सब क्रियाएं ईश्वर के साथ जोड़नी हैं। फिर देखोगे कि तुम्हारा जीवन कितना रमणीय और नमनीय हो जाता है।

—विनोबा

वंशी माहेश्वरी की कविताएं

•

मौन के बारे में
सोचता हूं मौन हो कर
हवा की लय में
फूल की तरह खिल जाता है मौन
बहुत भीतर.

मौन
चुपचाप अपने अंतर्मन से बातें करता
अपनी छवि में उतर जाता है
उस की दुनिया मंत्रमुग्ध होती
शब्द के पीछे-पीछे चलती है
शब्द
निःशब्द होते जाते हैं उस में.

मौन के बारे में
कितने ही रचे गए हों पृष्ठ अनादि
हर अध्याय अपनी आत्मा में
उस के अर्थ समेटे
हो जाते हैं मौन.

मौन
भीतरी शंकाओं के साथ
बाहर आता है
उस के चेहरे पर
भाषा की पवित्रता
अपनी जगह बना लेती है.

मौन के बारे में
मौन कुछ नहीं कहता
इच्छाहीन अनुपस्थिति के भीतर भी
उस की इच्छाएं उपस्थित रहती हैं
वश के बाहर होते
उस के आग्रह
वशीभूत हो जाते हैं.

मौन
अपने आस-पास फैले आकाश से
कुछ आर्द्र बादलों को लिए
आत्मविभोर हो जाता है
उस की अस्मिता में
अनंत काल से
भाषा के रहस्य अपने जाल फैलाए पड़े हैं.

मौन
अपनी परिधि में
अपरिमित होता
अपने सम्मोहन के सर्वोत्तम क्षणों में
स्पंदित होता है.

•

घर के आकाश में
कितनी जगह बनाती-बचाती
आकाश गंगा की तरह
बहती रहती है
स्मृति!

बार-बार
आती-जाती
अपने अंतर्मन की खुली खिड़कियों से झांकती
खुली रहती है
स्मृति!

अपने से कभी कुछ नहीं कहती
सब में गुंफित होती
अतीत से निकल कर
वर्तमान में
अपने को बचाती संश्लिष्ट होती है
स्मृति!

आखिर मैं पूछता हूं
स्मृति
तुम्हारे होने में कितनी जगह बची है
स्मृति में!

❖

शीलन

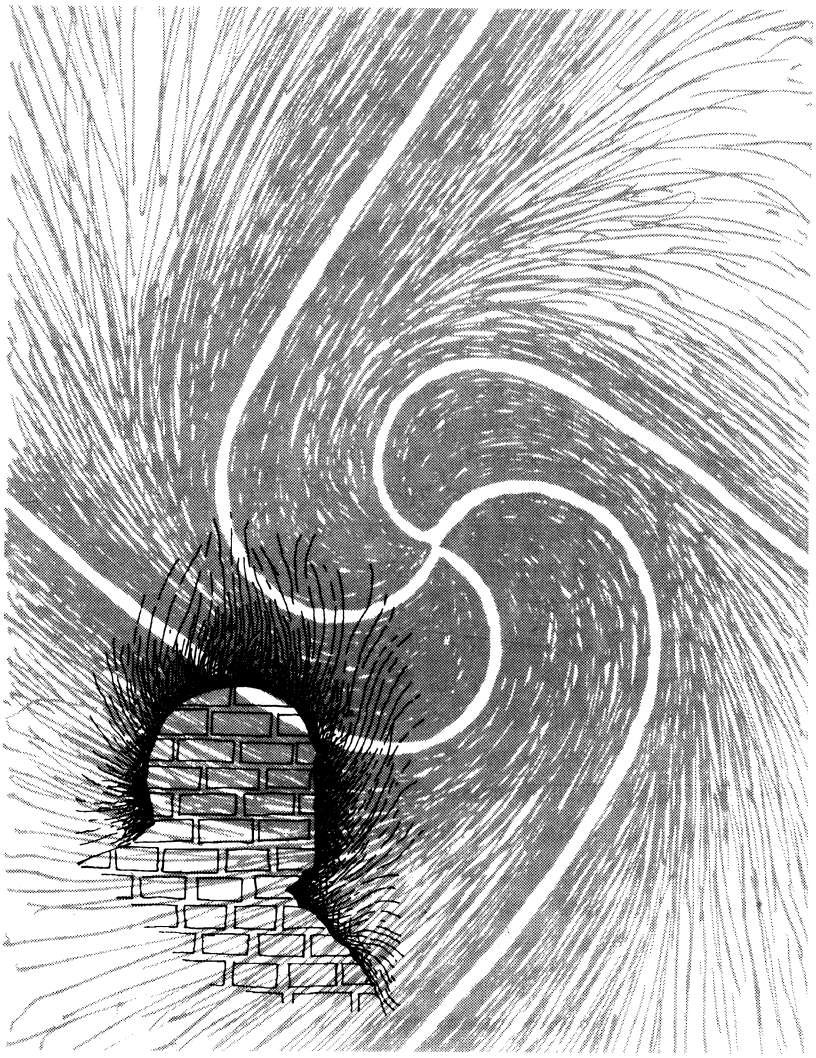

सत्य-शोधक सब कहीं अधर्म का विरोध करेगा, लेकिन इसके साथ ही वह अधर्मी व्यक्ति और अधर्म के बीच भेद करेगा। अधर्म का विरोध करते हुए भी वह अधर्मी व्यक्ति से द्वेष नहीं करेगा। चूंकि उसका विरोध सत्य और अहिंसामय साधनों द्वारा होगा, इसलिए उसमें द्वेष नहीं रहेगा। इतना ही नहीं, बल्कि मौका आने पर वह ऐसे अधर्मी की सेवा-चाकरी करना भी नहीं चूकेगा। अधर्म का नाश करने के लिए वह असत्य, हिंसादि अधर्मयुक्त साधनों का उपयोग करके स्वयं अधर्म का आचरण कभी नहीं करेगा।

—कि. घ. मशरूवाला

बुद्धि, धृति और स्मृति से भ्रष्ट हुआ व्यक्ति जो-जो अशुभ कर्म करता है, उसे सब दोषों का प्रकोप करने वाला प्रज्ञापराध कहा गया है। यदि इसे अधिक स्पष्ट किया जाए तो सद्वृत्त (सदाचार) में बतलाए गए सुकार्य, जिन्हें करने के लिए धर्मशास्त्र और आरोग्यशास्त्र आज्ञा देता है, किंवा जिनका संबंध हमारे जीवन, आरोग्य एवं समाज से जुड़ा हुआ है—उन्हें करने को हमारी सद्बुद्धि प्रेरित करती है। इसके विपरीत बुद्धि जिन कामों को हेय समझती है, उन्हें जानते-समझते हुए भी हम कर गुजरते हैं, उन्हीं हीन प्रवृत्तियों को प्रज्ञापराध की संज्ञा दी गई है। दो शब्दों में कहें तो निषिद्ध कर्मों को जान-बूझकर करना प्रज्ञापराध है।

❑❑❑

प्रज्ञापराध और जनपदोद्ध्वंस

— वैद्य ठाकुरप्रसाद शर्मा

जीवन एक द्वंद्व है—दो का जोड़ा है—सुख-दुख, हर्ष-विषाद, मान-अपमान, हानि-लाभ, रोग-निरोग, जीवन-मरण। व्यक्ति हमेशा अभीष्ट चाहता है, अपने मन को संतृप्त देखने का आदी है। पर, प्रकृति अपना काम निर्विवाद अविराम करती है। जो जवान है, वह बूढ़ा भी होगा। जो जन्मा है, वह मरेगा भी, इस पर उसका वश नहीं चलेगा। किंतु, असमय आने वाली विपत्तियों, समय पूर्व आने वाले कारणों या दुखों का निवारण उसके वश में है।

शरीरशास्त्र और विशेषकर उसका दार्शनिक पक्ष—मनोविज्ञान में मनुष्य के दुखी होने या रोगग्रस्त होने का कारण उपधा अर्थात् तृष्णा है, जो सदा जवान रहती है। कभी बूढ़ी नहीं होती—**तृष्णैका तरुणायते।** तृष्णा दुख और दुखाश्रयी शरीर को कष्ट देने का मूल कारण है। यदि यह हमारी समझ में आ जाए कि सभी प्रकार की तृष्णाओं का परित्याग समस्त दुखों का नाशक है, तो हम असमय आने वाली बाधाओं से मुक्त रह सकेंगे। पर, यह काम कठिन है और विवेकशील के लिए आसान भी। जैसे रेशम का कीड़ा उपधा के वशीभूत निरंतर अपनी मृत्यु के कारक रेशों को उत्पन्न करता है जो उसकी मौत का मूलभूत कारण हैं। यदि उसने रेशों का उत्पादन न किया होता तो उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती, पर यह उसका अज्ञान है।

कोशकारो यथा ह्यशूनुपादत्ते वध प्रदान्।
ठपादत्ते यथाऽर्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः।।

चरक शा. 1/96

प्राणी जगत में सृष्टि-सर्जक ने एकमात्र मनुष्य को ही ज्ञानी बनाया है। उसे विवेकशक्ति दी है, जिसका आश्रय लेकर वह विषयों को अग्नि-समान जलाने वाले समझ कर उनसे निवृत्त हो सकता है, परंतु उपधा के मायाजाल में फंसकर यह ज्ञानी विषयासक्त हो दुखी हो जाता है। यह सब होता है—प्रज्ञा-बुद्धि के विध्वंस से—

शस्त्रं निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेकम्।
प्रज्ञा कुलं च विभवं च यशश्च हन्ति।।

अर्थात्—शस्त्र तो पुरुष के केवल शरीर को ही मारता है, किंतु बुद्धि उसके कुल, वैभव और यश का विनाश कर देती है।

बुद्धि. का अविवेक ही अस्वस्थ मानसिकता की निशानी है। स्वस्थ शरीर के लक्षण बतलाते हुए आयुर्वेद के मनीषियों ने कहा है—

समदोषः समाग्निश्च, समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः, स्वस्थ इत्यभिधीयते।।

सुश्रुत सूत्र.

वात, पित्त, कफ समान मात्रा में हों, जठरादि अग्नियां सम हों, रस, रक्त, मांस, मेदा आदि शरीरस्थ धातुएं भी

समान हों, फिर भी आत्मा, इंद्रियां और मन प्रसन्न हों तभी शरीर स्वस्थ कहा जा सकता है। आत्मा का विकार, इंद्रियों की चंचलता और मन की खिन्नता के रहते व्यक्ति अस्वस्थ ही कहलाएगा।

वातादि को स्वस्थ रखने के लिए दिनचर्या, ऋतुचर्या तथा रात्रिचर्या के साथ-साथ सद्वृत्त (सदाचार) का पालन आवश्यक है। सद्वृत्त का पालन प्रज्ञा (बुद्धि) की स्वस्थता के लिए भी अनिवार्य है। आचार्य अग्निवेश ने शिष्य समुदाय को दुख के हेतुओं का कारण समझाते हुए उपदेश दिया था कि—

धी, धृति, स्मृतिविभ्रंशः, सम्प्राप्ति काल कर्मणाम्।
असात्म्यार्थगमश्चेति, ज्ञातव्याः दुःखहेतवः।।

चरक

बुद्धि विभ्रंश

बुद्धि, धृति, स्मृति का विभ्रंश (विनाश) काल और कर्मों की संप्राप्ति, असात्म्य (प्रतिकूल) इंद्रियों का संयोग—ये दुख के कारण हैं।

धृति विभ्रंश

धृति (धैर्य) के विभ्रंश से विषयों की ओर झुकाव वाला चित्त अहितकर कृत्य से रोका नहीं जा सकता। क्योंकि धृति नियमात्मिका अर्थात् नियंत्रण करने वाली है।

स्मृति विभ्रंश

रजोगुण और मोह से आवृत्त चित्त वाले जिस व्यक्ति की स्मृति तत्त्वज्ञान से भ्रष्ट होती है, इसे स्मृतिभ्रंश जाना जाता है। क्योंकि स्मरण करने योग्य वस्तु स्मृति में स्थित होती है।

प्रज्ञापराध

बुद्धि, धृति और स्मृति से भ्रष्ट हुआ व्यक्ति जो-जो अशुभ कर्म करता है, उसे सब दोषों का प्रकोप करने वाला प्रज्ञापराध कहा गया है। यदि इसे अधिक स्पष्ट किया जाए तो सद्वृत्त (सदाचार) में बतलाए गए सुकार्य, जिन्हें करने के लिए धर्मशास्त्र और आरोग्यशास्त्र आज्ञा देता है, किंवा जिनका संबंध हमारे जीवन, आरोग्य एवं समाज से जुड़ा हुआ है—उन्हें करने को हमारी सद्बुद्धि प्रेरित करती है। इसके विपरीत बुद्धि जिन कामों को हेय समझती है, उन्हें जानते-समझते हुए भी हम कर गुजरते हैं, उन्हीं हीन प्रवृत्तियों को प्रज्ञापराध की संज्ञा दी गई है। दो शब्दों में कहें तो निषिद्ध कर्मों को जान-बूझकर करना प्रज्ञापराध है।

मल-मूत्रादि वेगों को बलपूर्वक प्रवृत्त करना, उपस्थित वेगों को रोकना, दुःसाहस करना, अत्यंत विलासिता का जीवन जीना, क्रियाकाल अर्थात् चिकित्सा के सही समय की उपेक्षा अथवा मिथ्यारंभ, विनय और शिष्टाचार का लोप, पूज्यों का अपमान, जानते हुए भी अहितकर विषयों का सेवन, उन्माद (प्रमाद) कारक हेतुओं का मिथ्या निषेवण—यथा अधिक सोचना, बिल्कुल न सोचना, गलत दिशा में सोचना आदि मानसिक संताप उत्पन्न करने एवं अनिद्राकारक हेतुओं को जान-बूझकर निमंत्रण देना प्रज्ञापराध है। इस विशद व्याख्या के पश्चात् आता है 'जनपदोद्ध्वंस'—जिसका प्रज्ञापराध से चोली-दामन का संबंध है।

जनपदोद्ध्वसं (महामारी)

पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेशादि शिष्य समुदाय को समझाते हुए बतलाया था कि—**दृश्यन्ते हि खलु सौम्य! नक्षत्र ग्रहगण सूर्यचन्द्रानिलानां दिशा चाकृतिभूतानामृतुवैकारिकां भावाः, अचिरादितो भूरपि च न यथावद्रसवीर्यविपाक प्रभावमोषधीनां प्रति विधास्यति, तद् वियोगाच्चातङ्कप्रायतानियता।।** प्रकृति-परिवर्तन के कारण कभी-कभी नक्षत्र, ग्रह—चंद्र, सूर्य, वायु, अग्नि, दिशा और ऋतुओं का स्वाभाविक धर्म विकृत हो जाता है, जिससे पृथ्वी वनस्पतियों के रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव का समुचित उत्पादन नहीं कर पाती और एक ही विकार संक्रामक रोग उत्पन्न करके देश व जनपद को आक्रांत कर देता है। अतः इन वनस्पतियों के रस, वीर्य, विपाकादि से हीन होने के पूर्व ही तुम इन्हें उखाड़ लो। क्योंकि अभी से ऐसा करने से हम सुनिर्मित औषधियों द्वारा जनपदोद्ध्वंस की आने वाली विभीषिका से लोगों को बचा सकेंगे।

भाव विकृति

प्रत्येक मनुष्य का शारीरिक संगठन, प्रकृति, आहार, बल, सात्म्य, सत्त्व, वय भिन्न-भिन्न हैं, तब एक ही व्याधि से सारे जनपद का उद्ध्वंस (विनाश) एक साथ कैसे होता है? इसके समाधान में महर्षि आत्रेय कहते हैं—यह ठीक है कि प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न स्वभाव वाला होता है, तथापि बहुत-से भाव सभी में समान भी होते हैं। उनके विगुण होने या अंतर पड़ने से एक ही समय में एक ही लक्षण वाली व्याधि सबमें उत्पन्न हो जाती है (हैजा, मलेरिया, चक्षुरोग, इन्फ्लुएंजा आदि)। इसे हम इस रूप में

अधिक अच्छी तरह से समझ सकेंगे—पृथ्वी के स्वभाव में अंतर पड़ जाने से उसका असर सभी के शरीर पर पड़ेगा। जल के दूषित होने से उसका उपयोग करने वाले प्राणी पर उसका तद्वत् प्रभाव पड़ेगा। वायु की विकृति से सभी के श्वासोच्छ्वास में समान भाव से असर होगा।

ऋतु-परिवर्तन में व्यक्ति द्वारा किसी भी वस्तु-विशेष का अतियोग, हीनयोग, मिथ्यायोग भी रोगोत्पत्ति में सहायक होगा। शीत, ग्रीष्म, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वायु की कर्कशता, झंझावात-बवंडर तथा जल के गंध, वर्ण, स्वाद, स्पर्श आदि में अस्वाभाविकता व्याधि उत्पन्न करने में कारणभूत हैं। इसी प्रकार भूमि में क्लेद (कीचड़) सड़ांध, नमी बढ़ गई हो तथा जहां सर्प, बिच्छू, व्याघ्र, कीट, मच्छर, मक्खियां, चूहे, उल्लू, गीध, शृगाल आदि की बहुलता हो गई हो; घास-पात सूख गए हों; जोर-जोर से रोते-चिल्लाते हुए कुत्ते जिस भूमि व देश में इधर-उधर दौड़ते हों; पशु-पक्षी जहां नष्ट हो गए हों; उल्कापात होता हो; घनघोर बादल सूर्य, चंद्र, और तारकमंडल को आच्छादित कर गर्जन करते हों—ऐसी भूमि और देश अस्वास्थ्यकर होता है, वहां संक्रामक व्याधियों (महामारी) का प्रसार सहज संभव है। इसी प्रकार काल, ऋतु-परिवर्तन भी कारण है। 'काल चक्र तरसा बलीयसी'—यही प्रज्ञापराध के उपरांत जनपदोद्ध्वंस है और जनपदोद्ध्वंस का दुष्प्रभाव सभी पर समान रूप से होता है। प्रश्न उठता है कि वायु, जल, देश और काल में विगुणता क्यों उत्पन्न होती है? यों तो आयुर्वेद में इसका विस्तृत विवेचन है, परंतु एक शब्द में उत्तर दिया जाए तो कारण है—अधर्म। प्रश्न है—अधर्म से कैसे बचा जाए—

तदात्वे चानुबंधे वा यस्य स्याद शुभं फलम्।
कर्मणस्तन्न कर्तव्यमेतद्बुद्धिमतां मतम्।।

तत्काल या पीछे जिस कर्म का अशुभ फल हो, वह कर्म नहीं करना चाहिए। यह बुद्धिमानों का अभिमत है। ❖

असंकल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्।।

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया।।

कृपया भूतजं दुःखं दैवं दुःखं समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां तत्त्वनिषेवया।।

रजस्तमश्च तत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।।

—श्रीमद्भागवत् (7/15/22-25)

संकल्प/इच्छा-त्याग से काम को, काम-त्याग से क्रोध को, अर्थ को अनर्थ मानकर लोभ को, तत्त्वचिंतन से भय को, तर्क-विद्या से शोक और मोह को, महापुरुषों की सेवा से अहंकार को, मौन से यौगिक क्रियाओं की बाधाओं को, शरीर के प्रति उपेक्षा-भाव से हिंसा को, करुणा सें भौतिक दुख को, समाधि द्वारा दैविक दुख को, योग-प्रभाव से आत्मिक दुख को, सात्त्विक भोजन से निद्रा को, सतोगुण से रजो एवं तमोगुण को तथा शांति से सतोगुण को एवं इन समस्त दोषों को गुरु-भक्ति से पुरुष अच्छी तरह जीत सकता है।

—गीता प्रवचन से

आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को सहन नहीं करता। यहां तक कि भाई भाई को सहन नहीं कर सकता। कह दिया जाता है कि आखिर धैर्य की भी सीमा होती है। परंतु, धैर्य का अर्थ इतना संकीर्ण नहीं है। धैर्य का संबंध धरती से जुड़ा हुआ है। धरती पर अच्छे-बुरे सभी कार्य होते रहते हैं, किंतु धरती अपने धैर्य को नहीं खोती। तभी तो साधुओं, सज्जन पुरुषों ने कहा है—'धरती-सम धीर बनें, सागर-सम गंभीर बनें'। धैर्य के अभाव में व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में कर्तव्य पथ से विचलित हो जाता है। अतः प्रतिकूलता ही साधना की वास्तविक कसौटी है। साधना की कठिन परीक्षा है। बहुत बार होता है कि साधक की साधना चरम बिंदु पर पहुंच जाती है, किंतु धैर्य टूट जाने से सफलता प्राप्त नहीं होती। हमारे आगम ग्रंथों में कहा है—'सच्चम्मि धिइं कुव्वहा'—सत्य में धृति रखो। 'धैर्य धना हि साधवः'—साधुओं का धन धैर्य है। शेक्सपियर ने कहा—'वे कितने निर्धन हैं, जिनके पास धैर्य नहीं है।' कोई जरूरी धैर्य के बिना आज तक ठीक नहीं हुआ है। अतः धैर्य जीवन में परम आवश्यक है।

❑❑❑

धीरा सो गंभीरा

— साध्वी कल्पमाला

जीवन में धैर्य का महत्त्व बताते हुए महापुरुषों ने अनुकूलता-प्रतिकूलता की स्थितियों में सम रहना, संकट आने पर कर्तव्य-पथ से विचलित न होना, उपसर्ग-परीषह रूपी बाधाओं को सहन करना धीर-गंभीर व्यक्ति का गुण बताया है। कहा भी है—'धीरज, धर्म, मित्र, अरु नारी, आपत-काल परखिए चारी'—इन चारों में प्रथम स्थान धैर्य का है। आपत्तिकाल में धैर्य धारण करने की प्रेरणा दी गई है? जब प्रतिकूलता रूपी अग्नि चारों ओर से सुलग रही हो, मित्रों द्वारा छल और धोखे की शिलाएं बिछाई जा रही हों, तभी धैर्यशाली की पहचान होती है। कहा भी गया है—**धैर्यं न त्याज्यं विधुरेऽपि काले**—विपत्ति के समय धैर्य को नहीं छोड़ना चाहिए। जिसके पास धैर्य है, उसे कोई भी पराजित नहीं कर सकता। धैर्य ही संकट का निवारण करता है। योगवाशिष्ठ में कहा है—**न स्वधैर्याद्दते कश्चिदभ्युद्धरति संकटात्**।

कष्टों में सहिष्णुता

उत्तराध्ययन के बत्तीसवें अध्ययन में भगवान महावीर ने कहा—

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झाय एगंत निसेवणा य, सुत्तत्थ सचितणया धिई य।।

अर्थात्—गुरु और वृद्धों की सेवा करना, अज्ञानीजनों का दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकांतवास करना, सूत्र और अर्थ का चिंतन करना तथा धैर्य रखना मोक्ष मार्ग है।

धृति मन का नियमन करने वाली शक्ति है। धैर्य को मुक्ति का मार्ग बतलाया गया है, क्योंकि धैर्य के बिना व्यक्ति साधना के पथ पर आगे बढ़ नहीं सकता। इसके लिए मन की विकृति को कम करना जरूरी है। 'कुमार संभव' में कहा है—**विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः**—विकार उत्पन्न होने वाली वस्तु पास होने पर भी, जिसका मन विकृत नहीं होता, वास्तव में वही धीर पुरुष, साधक होता है।

इंद्र ने अपनी देव-परिषद में जब कहा—महावीर जैसा कष्ट-सहिष्णु मनुष्य इस पृथ्वी पर कोई नहीं है, जिसे देव अपनी शक्ति से विचलित कर सकें, तो देवों में से संगमदेव उठा और इंद्र से अनुमति ले मनुष्य-लोक में आया। उसने महावीर को कष्ट देना शुरू किया। केवल एक ही रात्रि में बीस मारणांतिक कष्ट दिए। उसने हाथी बनकर महावीर को आकाश में उछाला, बिच्छू बनकर काटा, वज्र चींटियों का रूप धारण कर शरीर को लहूलुहान

किया—फिर भी महावीर अडोल, निश्चल खड़े रहे। उनके मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई, कोई प्रकंपन नहीं हुआ। क्योंकि महावीर संवेदनाओं से ऊपर उठ चुके थे। उन्होंने अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर ली थी। अनुकूल वातावरण में अविचलित रहना, प्रतिकूल वातावरण पर विजय प्राप्त करने से भी अधिक कठिन है।

भर्तृहरि ने नीतिशतक में कहा है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यशेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

अर्थात्—नीतिपुरुष चाहे निंदा करें, चाहे प्रशंसा करें, लक्ष्मी चाहे आए, चाहे जाए तथा आज ही मरना पड़े, चाहे युगांतर में—धीर-पुरुष न्यायमार्ग से एक कदम भी पीछे नहीं हटते। महावीर ने संगमदेव के द्वारा नाना प्रकार के कष्टों को, उपद्रवों को समभाव से सहन किया, पर संगमदेव के प्रति किंचित भी द्वेष उत्पन्न नहीं किया। महावीर जानते थे कि मुझे दुख देने वाला दूसरा कोई नहीं है, स्वयं मेरी आत्मा सुख-दुख की कर्ता-विकर्ता है। कर्म संस्कारों के सिवाय दूसरा दुख देने वाला कौन है? अतः धैर्य के साथ सारे कष्टों को सहन किया। तभी तो जयाचार्य ने भी चौबीसी में लिखा—

संगम दुःख दिया आकरा पिण, सुप्रसन्न निजर दयाल।
जग उद्धार हुवै मो थकी रे, ए डूबै इण काल।।

चैतन्य जागरण की अवस्था होने से अनुकूल या प्रतिकूल—दोनों ही स्थितियों पर विजय पाई जा सकती है। अंततः संगमदेव का धैर्य समाप्त हो गया। उसने महावीर के चरणों में आकर कहा—मैंने आपको बहुत कष्ट दिए, फिर भी आपने मुझ पर करुणा सुधा का सिंचन ही किया। मैं अपने-आप को अब पराजित हुआ मानता हूं। कष्टों में भी आपके धैर्य की विजय हुई है।

प्रतीक्षा का फल मीठा

आज के युग की सबसे बड़ी कठिनाई है कि आदमी प्रतीक्षा करना नहीं चाहता, वह तत्काल फल चाहता है। हमने आज परीक्षा दी और आज से ही परिणाम के लिए अधीरता शुरू हो जाती है। आज ही बीज बोया और आज ही उसका फल मिल जाए—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। हथेली पर दही नहीं जमता। लोग चाहते हैं कि आज जो उद्योग स्थापित किया है, उससे आज ही मुनाफा मिलना शुरू हो जाए। ऐसा मंत्र चाहते हैं कि उसके जप के साथ-ही-साथ फल मिल जाए, ऐसा ही चिंतन या प्रयत्न रहता है। ऐसा अधैर्य, धीरज न रखने की वृत्ति साधना में विघ्न-बाधा की तरह होती है। साधना के क्षेत्र में अधीरता खतरनाक होती है। किरातार्जुनीय में कहा गया है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदांपदम्,
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः

अर्थात् किसी काम को उतावली से, बिना विचारे नहीं करें। अविवेक ही आपत्तियों का कारण है। विचारपूर्वक और धैर्य से काम करने वाले को उसके गुणों में लुब्ध होकर संपत्तियां स्वयमेव सेवन करती हैं। इसलिए कोई भी कार्य करें, पहले दो क्षण सोचें—फिर कार्य करें। क्योंकि धीरज का फल मीठा होता है। अभ्यास को धीमे-धीमे ही बढ़ाना चाहिए। शरीर का संतुलन भी इसी तरह बना रह सकता है। उतावलेपन से व्यक्ति जीवन में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति में धैर्य होता है, जो परिणाम के प्रति अनातुर रहता हुआ सत्क्रिया करता रहता है—प्रसंग-रत्नावली में उसके लिए कहा गया है—**शनैः कन्था शनैः पन्था, शनैः पर्वतलंघनम्, शनैर्विद्या शनैर्वित्तं पञ्चैतानि शनैः शनैः**—अर्थात्—पुराने वस्त्र को पहनना, रास्ता काटना, पर्वत लांघना, विद्या पढ़ना, धन पैदा करना—ये पांच काम धीरे-धीरे करने चाहिए। अतः अधैर्य की स्थिति उत्पन्न न होने दें। जिसके पास धैर्य है, वह जो-चाहे प्राप्त कर सकता है। धीर पुरुष संपत्ति और विपत्ति में सम रहते हैं, जैसे सूर्य उदय और अस्त—दोनों समय में लाल रहता है—कहा भी है—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च,
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।

इसलिए जो अनुकूल-प्रतिकूल, सम-विषम, निंदा-प्रशंसा में एकरूप रहते हैं, सहिष्णुता का परिचय देते हैं, वे धीरपुरुष कहलाते हैं। कहा भी है—

काच कथीर अधीर नर, कस्यां न उपजै प्रेम,
कसवी तो धीरा सहै के हीरा के हेम।

पुरुषोत्तम रामचंद्रजी को जब राज्याभिषेक देने की तैयारी हुई तो वे प्रसन्न नहीं हुए और वनवास का आदेश होने पर मुख म्लान नहीं हुआ। वे दोनों ही परिस्थितियों में सम रहे। निशीथ भाष्य में कहा है—**धिती तु मोहस्स उपसमे होति**—मोह का उपशम होने पर ही धृति होती है।

राम ने राज्य का मोह छोड़कर वनवास जाना स्वीकार किया। ऐसा धीर पुरुष ही कर सकते हैं। क्योंकि वे मानते थे—**चलन्ति गिरयः कामं युगान्तपवनाहताः, कृच्छ्रेऽपि न चलत्येव धीराणां निश्चलं मनः**। अर्थात्—प्रत्यकाल के पवन से चलकर पर्वत भले ही अपने स्थान से हट जाएं, परंतु धीरपुरुषों का निश्चल मन घोर कष्टों में भी विचलित नहीं होता। धीरज का फल मीठा होता है। कहा भी है—**धीरे-धीरे रे मनां, धीरे सब-कुछ होय। माली सींचै सौ घड़ा ऋतु आयां फल होय।।** गुजराती कहावत भी है—**धीरजना फल मीठा छे, सबूरी नो बदलो साहेब आपे।**

धैर्य-मंथन : विधायक चिंतन

यदि हमारे विचार सकारात्मक होंगे, तो कार्य सफल होगा। यदि विचार नकारात्मक रखेंगे, तो निराशा ही मिलेगी। इन दो कथानकों से हम यह समझ सकते हैं—(1) बुद्ध के दो शिष्य थे। नौका से नदी पार की और नाविक से पूछा—गांव कितनी दूर है? रात घिरने से पहले पहुंच जाएंगे क्या? नाविक बोला—मन से नकार जैसे विचार निकाल दो, यदि धीरे-धीरे चलोगे तो भी पहुंच जाओगे। उन्होंने उसको पागल समझा। वे तेजी से चले। एक शिष्य गिर पड़ा। चोट आ गई। रात जंगल में बितानी पड़ी। इसलिए विधायक चिंतन हो तथा जल्दबाजी या उतावलापन न हो तो कार्य सफल हो जाता है। (2) किसान खेत में बुवाई कर रहा था। एक नवयुवक आया, पानी के पाइप को अनजुती भूमि की तरफ कर दिया, बैलों को भी खोल दिया और किसान को डंडे से मारने लगा। किसान ने युवक पर क्रोध नहीं किया, अपितु उसने कहा—तुम कितने भले हो! मैंने आज तक कभी सोचा ही नहीं कि अनजुती भूमि को भी पानी देना चाहिए। बैलों से काम ही काम कराया, कभी सोचा भी नहीं कि इन्हें खुला भी छोड़ना चाहिए। यही नहीं, मेरी पीठ पर डंडे की मार लगने से पता चला कि इन बैलों को मैंने कितना पीटा। जैसे मेरे पीड़ा होती है, वैसे ही इनके भी होती होगी। तुम कितने उपकारी हो—जो-कुछ तुमने किया, उससे मेरी चेतना जाग्रत हो गई। युवक ने कहा—मैंने आपको पीटा, बैलों को खोल कर खेत का भी नुकसान किया, बिना मतलब बंजर भूमि में पानी बहाया फिर भी आपके विचारों में कोई नकारात्मकता नहीं आई—यह आपके धैर्य की कसौटी थी और आप इसमें खरे उतरे।

तभी तो कहा है—धीरता से दरिद्रता भी चमक उठती है—**दरिद्रता धीरतया विराजते**। अतः उन्नत विचार और प्रत्येक कार्य में धैर्य रखना जीवन में परम आवश्यक है। कभी कोई गाली दे तो यह विधायक चिंतन करें कि गाली ही दी, पीटा तो नहीं। पीटने की नौबत आ जाए तो सोचें पीटा ही, मगर प्राण तो हरण नहीं किया। अगर प्राण भी ले लें तो सोचें, प्राणों को लूटा पर धर्म तो नहीं लूटा। इस प्रकार धीर-पुरुष विधायक चिंतन द्वारा साधना में प्रगति कर सकता है।

आज धीरज न रखने के कारण असहिष्णुता बढ़ रही है। कोई किसी को सहन नहीं करता। धार्मिक क्षेत्र हो, चाहे आर्थिक क्षेत्र हो, चाहे सामाजिक क्षेत्र हो, चाहे राजनीतिक क्षेत्र हो—सभी क्षेत्रों में चिंतनपूर्वक कार्य न करने से तथा धैर्य नहीं रख पाने से एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर हावी हो रहा है। आए दिन कोई-न-कोई मुद्दा तनाव या युद्ध का कारण बनता है।

आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को सहन नहीं करता। यहां तक कि भाई भाई को सहन नहीं कर सकता। कह दिया जाता है कि आखिर धैर्य की भी सीमा होती है। परंतु, धैर्य का अर्थ इतना संकीर्ण नहीं है। धैर्य का संबंध धरती से जुड़ा हुआ है। धरती पर अच्छे-बुरे सभी कार्य होते रहते हैं, किंतु धरती अपने धैर्य को नहीं खोती। तभी तो साधुओं, सज्जन पुरुषों ने कहा है—'धरती-सम धीर बनें, सागर-सम गंभीर बनें'। धैर्य के अभाव में व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में कर्तव्य पथ से विचलित हो जाता है। अतः प्रतिकूलता ही साधना की वास्तविक कसौटी है। साधना की कठिन परीक्षा है। बहुत बार होता है कि साधक की साधना चरम बिंदु पर पहुंच जाती है, किंतु धैर्य टूट जाने से सफलता प्राप्त नहीं होती। हमारे आगम ग्रंथों में कहा है—**सच्चम्मि धिइं कुव्वहा**—सत्य में धृति रखो। **धैर्य धना हि साधवः**—साधुओं का धन धैर्य है। शेक्सपियर ने कहा—'वे कितने निर्धन हैं, जिनके पास धैर्य नहीं है।' कोई जख्म धैर्य के बिना आज तक ठीक नहीं हुआ है। अतः धैर्य जीवन में परम आवश्यक है।

सफलता का रहस्य—धैर्य

प्रसिद्ध चिंतक-सृजक टालस्टाय से एक युवक ने पूछा—'सफलता का रहस्य क्या है?' टालस्टाय ने कहा—'सफलता का रहस्य है—धैर्य।' युवक सहमत नहीं हुआ। उसने कहा—'क्या मैं इतना धैर्य रखूं कि चलनी में पानी ठहर जाए।' टालस्टाय ने कहा—'यदि धैर्य हो तो चलनी में पानी ठहर सकता है।' जब तक पानी बरफ न बन जाए, यदि तब तक धैर्य रहे, तो चलनी में भी पानी ठहर

सकता है। तात्पर्य यह कि इतना धैर्य हो कि पानी जम जाए। सहिष्णुता की महिमा व धैर्य की गाथा जिनकी गाई जाती है, वे महान व्यक्ति कहलाते हैं। हमने देखा, सुकरात को जहर का प्याला, ईशु को फांसी की सजा, आचार्य भिक्षु को गालियों-मुक्कों की बौछार, आचार्य तुलसी पर पत्थरों की बरसात, विरोधी पेंफलेटों की भरमार हुई—फिर भी इन सभी ने धैर्यपूर्वक, समभाव से सब-कुछ सहन करके सफलता को प्राप्त किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का जीवन तो धैर्य का साकार प्रतिरूप कहा जा सकता है। बृहत्कल्पभाष्य में कहा है—**तं तु न विज्जइ काज्जं, जं धिइमंतो न साहेर**? अर्थात् वह कौनसा कठिन कार्य है, जिसे धैर्यवान व्यक्ति संपन्न नहीं कर सकता?

धीरा धैर्य धुरंधरा

धीर पुरुष धैर्य में प्रवीण होते हैं। साधुओं का धन धैर्य है। इस बात को ध्यान में रखते हुए प्रतिकूल परिस्थिति में भी धैर्य को नहीं छोड़ना चाहिए। धैर्य ही व्यक्ति की विपत्ति-काल में माता की तरह रक्षा करता है। धैर्य ही मित्र की तरह व्यक्ति को हित कार्य में नियुक्त करता है। वह व्यक्ति दुष्कर विपत्ति को सहसा पार कर जाता है, जिसके पास धैर्य होता है। साहस रूपी लक्ष्मी को धैर्य से ही प्राप्त किया जा सकता है। धैर्य को लेकर रामायण में दिए गए प्रतिबोध को जो हृदयंगम कर लेता है, वह प्रतिकूल काल में भी विचलित नहीं होता। उतावलेपन से जो काम किया जाता है, वह बिगड़ जाता है। अति शीघ्रता बुराई की जननी भी होती है। कहा भी गया है—'उतावला सो बावला'। ऐसा न बनकर—'धीरा सो गम्भीरा' बनना है। जो अधीर होता है, उसकी स्थिति सदा विपरीत देखी गई है।

पोत यदि समुद्र में डगमगाने लगे तो नाविक धैर्यपूर्वक उपाय करता है और उसे सफलता प्राप्त होती है। इसलिए धैर्य को विपत्तिकाल में नहीं छोड़ना चाहिए। कदाचित प्रतिकूल स्थिति हो भी जाए, तो भी जैसा धैर्य सहायक होता है, वैसा दूसरा कोई नहीं। इसीलिए कहा है—**त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले, धैर्यात् कदाचित स्थितिमाप्नुयात् सः। जाते समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे, सांयात्रिको वांछति तर्तुमेव।।**—सत्य ही कहा है कि धैर्य को नहीं छोड़ना चाहिए। समृद्धि की चाह रखने वाले मनुष्य धैर्य को धारण करते हुए विशेष लाभ को प्राप्त करते हैं। युद्ध भूमि में भी वही व्यक्ति विजयश्री को प्राप्त करता है जो धैर्य को नहीं छोड़ता। व्यक्ति का सहज मित्र धैर्य ही है। धैर्य आवेश का प्रतिपक्षी है, वह व्यक्ति को बचाता है। सेठ घर पर चौदह साल बाद आया। पत्नी के साथ किशोर-युवक को सोते देख, सहसा तलवार उठ गई। सेठ को तत्काल महापुरुषों की दी हुई शिक्षा का स्मरण हो आया—**सहसा न विदधीत न क्रिया**। दो निरपराध बच गए इसलिए कहा है—

सहसा साहसेनापि कार्यं कार्यं न केनचित्।
विचार्य शक्तिसम्पन्नो यत्करोति सुखाय यत्।।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में, 'जिसमें उतावलापन होता है, जो उचित समय की प्रतीक्षा करना नहीं जानता। उसका मन अधिक चंचल हो जाता है। अधिक चंचलता मन को अस्त-व्यस्त बना देती है। इससे स्मृति और एकाग्रता की शक्ति कम होती है। इसलिए धैर्य रखना बहुत जरूरी है। मैं धैर्य रखने का अभ्यास करूंगा, मैं परिस्थिति को झेलने की क्षमता को विकसित करूंगा, उससे पराजित नहीं होऊंगा—इस प्रकार प्राण-केंद्र पर पीले रंग का ध्यान करके अनुप्रेक्षा करें तथा नौ बार सस्वर उच्चारण करें, फिर नौ बार मानसिक जप करें—इससे हम धैर्यशाली बन सकेंगे। हृदय में सम्यक् रूप से विचार धारण कर धैर्य का अभ्यास करना जीवन में परम आवश्यक है, जिससे जीवन-यात्रा और अध्यात्म की महायात्रा धैर्य के साथ परिपूर्ण सिद्ध हो सके।' ❖

मृत्यु का संबंध है देह से, इंद्रियों से, मन से और अहं से। ये निरंतर विकारशील रहते हैं और अंत में नाश हो जाते हैं, ये हमारी आत्मा नहीं हैं, न तो अकेले, न सब मिल कर भी। हमारा सच्चा रूप अनंत और अमृत है, यह बात उपनिषदों में अनेक गुरु-शिष्य संवादों द्वारा स्पष्ट की गई है। इन संवादों में मनों की घनिष्ठ परस्परभाविता की छाप है। कुछ आधुनिक कॉलेजों में असावधान विद्यार्थी वर्ग को किसी विद्वान प्राध्यापक द्वारा दिए गए दर्शन के लेक्चर जैसे यह नहीं होते। इनमें दार्शनिक खोज और आध्यात्मिक उत्साह की छाप दिखाई देती है। जो शिक्षा वे देते हैं, वह आध्यात्मिक अनुभूति से आती है तथा जो उसे आध्यात्मिक बोध की ओर ले जाते हैं।

—स्वामी रंगनाथानंद

'हां निधि, मेरी भी एक बेटी थी। दो साल पहले वह अचानक मर गई। अगर आज वह होती तो दस साल की होती!'—फिर रुककर उन्होंने कहा—'उसका चेहरा बिलकुल तुम्हारे चेहरे जैसा था। तुम जैसे हंसती हो, वह भी वैसे ही हंसती थी। तुम जैसे बोलती हो, वह भी वैसे ही बोलती थी.... मैंने तुम्हें जब पहली बार देखा तो मुझे लगा, मेरी बेटी मारिया मेरे पास वापस आ गई.... इसीलिए मैं तुम्हें सुनील और पूजा से कुछ ज्यादा ही प्यार करने लगी। मैं वही सब-कुछ बनाकर तुम्हें खिलाती, जो मेरी मारिया को पसंद था। परंतु.... बेटी, मुझे माफ कर दो, मैंने तुमको बहुत बांध लिया था। तुम अपनी तरह नहीं रह पा रही थी। मैं गलती पर थी। निधि! बेटी, मुझे माफ करना।'—उनकी आंखों में आंसू आ गए।

❑❑❑

मैं आपकी असली बेटी

— गिरजाशानी अस्थाना

'निधि, कहां हो तुम?....इधर आओ, देखो मैं तुम्हारे लिए क्या लाई हूं?' मिसेज जेम्स ने पुकारा।

निधि, पूजा और सुनील इस बार गर्मी की छुट्टियां बिताने यहां आए हैं। उनकी मां भी साथ में हैं। उन्होंने यहां यह फ्लैट किराए पर ले लिया है, ताकि आराम से रह सकें। मिसेज जेम्स इस फ्लैट की मालकिन हैं, जो ऊपरी मंजिल में रहती हैं। वह बहुत ही मिलनसार महिला हैं। निधि ने तो पहले ही दिन से उनके दिल में अपनी जगह बना ली है। निधि को बहुत ही प्यार करती हैं मिसेज जेम्स। कभी वह उसके लिए चॉकलेट लाती हैं तो कभी केक बनाती हैं। निधि को वह ज्यादा-से-ज्यादा समय अपने पास रखना चाहती हैं और इसके लिए वह कोई-न-कोई बहाना ढूंढ़ निकालती हैं।

निधि अपने भाई-बहनों में सबसे छोटी है—दस साल की। उससे तीन साल बड़ी बहन है पूजा और पूजा से एक साल बड़ा भाई सुनील।

मिसेज जेम्स निधि को प्यार करती हैं, यह बात पूजा और सुनील को पहले तो कुछ दिन अच्छी लगी। फिर उन्हें लगा कि वह केवल निधि को ही क्यों प्यार करती हैं? हमें क्यों नहीं? बस, तभी से उन्हें निधि से चिढ़ होने लगी। वे दोनों निधि को चिढ़ाते रहते। यहां तक कह देते कि 'निधि, मिसेज जेम्स ही तेरी 'असली मां' हैं।' जब भी मिसेज जेम्स बाहर से आतीं या निधि को पुकारतीं तो दोनों कहते, 'निधि, तेरी 'असली मां' आ गईं।' या फिर कहते, 'निधि, तेरी 'असली मां' तुझे बुला रही हैं।'

उस दिन भी मिसेज जेम्स ने पुकारा, 'निधि बेटी, कहां हो? मेरे पास आओ!'

इसे सुनकर सुनील ने निधि को चिढ़ाते हुए फुसफुसाकर कहा, 'अजी, निधि की 'असली माताजी', आप ही हमारे पास आ जाओ! निधि यहां है!'

पूजा, जो पहले से ही चिढ़ी बैठी थी, बड़बड़ाई—'कुछ लोग ऐसे भाग्यशाली होते हैं, जो सारे सुख लेकर धरती पर आते हैं, और हम जैसे लोग...।' फिर बोली, 'काश, मिसेज जेम्स जैसी हमारी भी कोई 'असली मां' होती जो हमें प्यार करती, रोज-रोज खाने के लिए टॉफियां, केक देती तो कितने मजे आते?'

पूजा की बात सुनकर सुनील ने कहा, 'तो फिर पूजा, तुम निधि जितनी छोटी हो जाओ।'

तभी निधि की मां ने कहा—'मिसेज जेम्स, आप ही आ जाइए। आज निधि की तबीयत ठीक नहीं है, उसके पेट में दर्द है।'

'क्या कहा? मेरी प्यारी बेटी निधि के पेट में दर्द है? ओह, मैंने तो उसके लिए चॉकलेट वाला केक बनाया था',—कहती हुई मिसेज जेम्स नीचे उतर आईं। निधि को लेटा देखकर निधि से पूछा—'क्या बात है निधि? पेट में दर्द है? कोई बात नहीं। मैं अभी ठीक किए देती हूं।' कहते हुए वह ऊपर चली गईं। कुछ ही देर बाद दवाई की शीशी लेकर नीचे आईं।

मिसेज जेम्स को दवाई की शीशी लेकर आते हुए देख पूजा और सुनील ने एक-दूसरे को देखा और मुस्करा पड़े।

शीशी में से दवाई निकालकर उन्होंने निधि को पिलाई। फिर निधि की मम्मी से कहा—'आप निधि के खाने की फिक्र मत करना। मैं अभी इसके लिए सूप बनाए देती हूं।' कहते हुए वह सूप बनाने ऊपर चली गईं।

निधि ने देखा, सुनील और पूजा अभी भी उसे चिढ़ा रहे थे?

उन्हें चिढ़ाते देख निधि रुआंसी हो गई। उसने मां का हाथ पकड़ लिया और बोली—'ओ मां, ये मिसेज जेम्स मेरे पीछे क्यों पड़ी रहती हैं? मैं तो परेशान हो गई हूं इनसे। कभी कहती हैं, यह खा लो, कभी यह ले लो, क्या मैं छोटी बच्ची हूं?'

'इस तरह नहीं बोलते बेटी! मिसेज जेम्स तो तुम्हें बहुत प्यार करती हैं। इसीलिए वह तुम्हारा इतना खयाल रखती हैं। फिर वह बिलकुल अकेली हैं न! इसीलिए उन्हें तुम्हारा साथ अच्छा लगता है।'

अगले दिन निधि नीचे लॉन में खेल रही थी। मिसेज जेम्स बाजार से लौट रही थीं। निधि को खेलते देखकर उन्हें बहुत खुशी हुई, बोलीं—'अरे निधि, कैसी हो बेटी? अब तो तुम बिलकुल ठीक हो न?'

'हां, आंटी, अब मैं ठीक हूं,'—निधि ने प्यार से जवाब दिया।

'लो, मैं तुम्हारे लिए चॉकलेट लाई हूं—' निधि ने चॉकलेट लेने के लिए हाथ बढ़ाया, तभी उसकी नजर दूर खड़े सुनील पर गई। उसने तुरंत अपना हाथ पीछे खींच लिया। बोली—'नहीं आंटी, मैंने चॉकलेट खाना छोड़ दिया है। मम्मी कहती हैं, इससे दांत खराब हो जाते हैं और पेट भी खराब हो जाता है।'

मिसेज जेम्स कुछ मिनट यूं ही खड़ी रहीं। फिर बोलीं—'अच्छा, कल तुम दोपहर को खाना मेरे साथ खाना, मैं तुम्हारी मां से कह दूंगी!'

निधि ने गरदन हिलाकर हां कर दी, पर वह मन-ही-मन बड़बड़ाने लगी—'मैं ही क्यों खाऊं, भैया और दीदी भी क्यों नहीं खाएं? क्या आंटी उन्हें नहीं बुला सकतीं? मैं उनके यहां खाना खाने जाऊंगी तो वे दोनों मुझे फिर चिढ़ाएंगे। मैं नहीं जाऊंगी उनके पास खाना खाने। अगर भैया-दीदी को भी बुलाएंगी तो जाऊंगी। नहीं तो मैं कल कहीं चली जाऊंगी। अगर मां भी जाने के लिए कहेंगी तो पेटदर्द का बहाना बना लूंगी...।'

रात को खाना खाते समय निधि को पता चला कि सुनील और पूजा अपने दोस्तों के साथ घूमने लाल टिब्बा जा रहे हैं। निधि ने सोचा—'अगर मैं भी इनके साथ चली जाऊं तो मिसेज जेम्स के यहां जाने से बच जाऊंगी।' उसने सुनील से कहा—'भैया, मुझे भी अपने साथ ले चलो लाल टिब्बा।'

'नहीं, नहीं!'—सुनील और पूजा दोनों एक साथ बोल पड़े—'लाल टिब्बा बहुत दूर है, निधि! तुम वहां तक चल नहीं सकोगी। हम लोग तो पैदल ही जाएंगे।'

'मुझे मालूम है, मैं भी पैदल चलूंगी। बहुत सुंदर जगह है लाल टिब्बा! वहां से बर्फ से ढकी चोटियां दिखाई देती हैं।'

'अरे वाह! तुम्हें बर्फ की चोटियां कब से पसंद आने लगीं? तुम्हें तो....' पूजा ने अभी बात पूरी नहीं की, पर उसे आगे क्या कहना था यह बात मां और सुनील समझ गए थे।

'पूजा और सुनील! तुम लोग निधि को क्यों चिढ़ाते रहते हो? तुम इसे अपने साथ क्यों नहीं ले जा सकते? आखिर यह तुम्हारी छोटी बहन है।'

मां के कहने पर निधि को ले जाने के लिए सुनील तैयार हो गया। बोला—'अच्छा ठीक है! निधि, कल सुबह जल्दी तैयार हो जाना। देर मत करना, नहीं तो हम तुम्हें यहीं छोड़ जाएंगे।'

सुबह निधि सबसे पहले उठकर तैयार हो गई। आसमान एकदम साफ, नीला-नीला दिख रहा था। ऐसे में पहाड़ की चोटियां बिलकुल साफ दिखाई देती हैं। तैयार होने के बाद भी निधि के मन में उथल-पुथल हो रही थी। वह जानती थी कि भैया और दीदी उसे वहां भी चिढ़ाएंगे, पर वह जेम्स आंटी के साथ खाना खाने से बच जाएगी।

लाल टिब्बा से लौटते-लौटते बच्चों को देर हो गई। सात बजे जब ये लोग लौटे तो खूब थके हुए थे। चारों तरफ अंधेरा घिर आया था। घर पहुंचते ही मां ने निधि से कहा—'मिसेज जेम्स तुम्हारे लिए परेशान हो रही थीं, बार-बार पूछ रही थीं। कह रही थीं कि तुम उनसे कहकर क्यों नहीं गई। जाओ, जाकर मिल आओ।'

घर लौटते ही मां की यह बात निधि को बहुत बुरी लगी। फिर भी उसने सोचा—'चलो, एक बार जेम्स आंटी को देख आती हूं।' सुनील ने बुरा-सा मुंह बनाया, पर वह उसकी परवाह किए बिना सीढ़ियां चढ़ गई।

ऊपर बिलकुल अंधेरा था। कमरे का दरवाजा सिर्फ अटका हुआ था। निधि ने दरवाजा खोला तो जेम्स आंटी की आवाज आई—'कौन है....अंदर आ जाओ।'

निधि अंदर कमरे में चली गई। यहां भी अंधेरा था। बस, दो बड़ी मोमबत्तियां जल रही थीं। निधि ने देखा, कार्निस पर फ्रेम में जड़ा बच्ची का एक फोटो रखा है। मोमबत्तियां उसी के दोनों ओर रखी जल रही हैं। नीचे छोटी-सी मेज पर एक सजा हुआ केक रखा है। केक पर लगी हुई मोमबत्तियां अभी जलाई ही नहीं गई हैं।

निधि ने आंटी के कंधे पर हाथ रखा। पूछा—'क्या बात है, आंटी?'

मिसेज जेम्स रो रही थीं। बोलीं—'आज मेरी बेटी का जन्मदिन है।'

'आपकी बेटी कहां है—आंटी?'

उन्होंने तस्वीर की तरफ इशारा कर दिया। निधि ने ध्यान से देखा। तस्वीर वाली लड़की लगभग उसी की उम्र की थी। केक पर भी दस मोमबत्तियां लगी हुई थीं। निधि चुप रह गई। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहे?

'हां निधि, मेरी भी एक बेटी थी। दो साल पहले वह अचानक मर गई। अगर आज वह होती तो दस साल की होती!'—फिर रुककर उन्होंने कहा—'उसका चेहरा बिलकुल तुम्हारे चेहरे जैसा था। तुम जैसे हंसती हो, वह भी वैसे ही हंसती थी। तुम जैसे बोलती हो, वह भी वैसे ही बोलती थी.... मैंने तुम्हें जब पहली बार देखा तो मुझे लगा, मेरी बेटी मारिया मेरे पास वापस आ गई.... इसीलिए मैं तुम्हें सुनील और पूजा से कुछ ज्यादा ही प्यार करने लगी। मैं वही सब-कुछ बनाकर तुम्हें खिलाती, जो मेरी मारिया को पसंद था। परंतु.... बेटी, मुझे माफ कर दो, मैंने तुमको बहुत बांध लिया था। तुम अपनी तरह नहीं रह पा रही थी। मैं गलती पर थी। निधि! बेटी, मुझे माफ करना।'—उनकी आंखों में आंसू आ गए।

निधि ने उठकर लाइट का स्विच दबाया, कमरे में उजाला हो गया। फिर उसने जेम्स आंटी के आंसू पोंछे—'अब चुप हो जाइए, मैंने बहुत बुरा व्यवहार किया। माफ तो आप मुझे कर दीजिए।'

जेम्स आंटी ने उसे गले से लगा लिया। बोलीं—'मेरी बच्ची, तुम नहीं जानती कि तुमने मुझे कितनी खुशियां दी हैं। आओ, चलो खाना खा लें। मैं खाना गर्म करके टेबल पर लगाती हूं। तब तक तुम हाथ धो लो।'

'नहीं आंटी, पहले केक काट लें।' जेम्स आंटी ने केक पर लगी मोमबत्तियां जलाईं। केक काटकर पहला टुकड़ा मिसेज जेम्स को खिलाया। फिर उनके गले से लिपटकर बोली—'आज से आप भी मेरी मां हैं और मैं आपकी 'असली बेटी'।' ❖

With best compliments from :

卐

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

जैन भारती, अक्टूबर, 2005 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

Your Partner in Progress

India's No. 1 Company for Bearing Distribution and Shaft solution

INA
Authorised Distributor

Premier (India) Bearings Ltd.

407 & 413 Marshall House, 4th Floor, 25, Strand Road, Kolkata - 700001
Phone : 2220 0640/1926, Fax : (033) 2248 5745
E-mail : pibl@vsnl.com

FAG Star Distributor

Our Branches Office : • Chennai • Mumbai • Chandigarh • Gurgaon • Kochi • Ludhiana

Website : http://www.mahadealer.com

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।